जीवन की गूढ़ गुत्थियों पर तात्विक प्रकाश

अखण्ड ज्योति
मथुरा

—श्रीराम शर्मा आचार्य !

* ॐ *

सद्ज्ञान ग्रन्थमाला का सत्रहवां पुष्प—

जीवन की गुत्थियों पर तात्विक प्रकाश ।

लेखक—

पं० श्रीराम शर्मा आचार्य;

प्रकाशक—

'अखण्ड-ज्योति' कार्यालय; मथुरा ।

तृतीय बार] सन् १९४४ ई० [मूल्य ।=)

मुद्रक—श्यामलाल भार्गव, श्याम प्रेस, घीयामण्डी मथुरा ।

अमरत्व का सच्चा अनुभव करिए।

—(*)—

ग्रामोफोन के रिकार्ड की तरह लोग "शरीर से आत्म भिन्न है" इस मान्यता को कह देते हैं, तोता 'राम-राम' र करता है पर वह उसका अर्थ कुछ नहीं समझता। सिखने वा के शब्द की नकल मात्र वह कर देता है लोग समझते हैं तोत बड़ा हरि-भक्त हो गया यह वाल्मीक की तरह योग साधना क रहा है पर तोता के मन से पूछा जाय तो वह यही उत्तर देग कि टें-टैं करने के सिवाय यह एक और शब्द सीख लिया है उसका अर्थ मैं क्या जानूं। लोगों से पूछा जाय कि तुम आत्म को क्या समझते हो? जो जिह्वा भले ही सुना हुआ शब्द रट दे कि "शरीर से पृथक अविनाशी चेतन" पर दिल यही कहेगा "शरीर ही आत्मा है" बहस में पड़ने की जरूरत नहीं, हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि लोगों के सारे काम शरीर के लिये होते हैं, दिन रात जो कुछ वे सोचते विचारते और काम करते हैं उनका एक मात्र उद्देश्य शरीर का पोषण, शरीरके रिश्तेदारों का पोषण होता है आत्मिक समस्त स्वार्थ—धर्म और पवित्र कर्तव्य की सम्पूर्ण जिम्मेदारी शारीरिक लाभों के लिए हनन करदी जाती है। बड़े बड़े विद्वान, ऊंचे ऊंचे धर्मोपदेशक, पण्डित, पण्डे, पुजारी, साधु, वैज्ञानिक, जब कुकर्म, अनीति और पाप द्वारा सुखःसामिग्रियों का सम्पादन करते हैं तब यही मानना पड़ता है कि इन लोगों की विद्या कण्ठ तक ही है, आत्मज्ञान, नीति और धर्म, जिह्वा के अग्र भाग तक ही है नीचे तो "शरीर ही आत्मा है" का गहरा विश्वास जमा बैठा है। जो अवसर पाते ही प्रबल हो उठता है और उस आत्मज्ञान की मान्यता को दबा कर करना नग्न नृत्य करने लगता है।

जीवन की अखण्डता ।

"जीवन अखण्ड है" यह एक ऐसा ठोस सिद्धान्त है जिसके पीछे असंख्य तर्क और प्रमाणों का बल है । गम्भीरता पूर्वक जितना जितना विचार किया जाता है उतने ही यह तर्क और प्रमाण बढ़ते जाते तथा मजबूत होते जाते हैं । आप देखते हैं कि बछड़ा उत्पन्न होते ही गाय के थनों पर जा पहुंचता है और अपने आप दूध पीने लगता है उसे कौन सिखाता है कि दूध का स्थान यहां है और उसे खींचने के लिए मुख को इस प्रकार चलाना चाहिए निस्संदेह यह पूर्व जन्म की स्मृति हैं जिनके अनुसार उसने पैदा होते ही काम करना आरम्भ कर दिया । आत्मा शरीर से पृथक हैं, जीवन अखण्ड हैं, मृत्यु के बाद भी जन्म होता हैं, इसके अनेक प्रमाण हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं:-(१) नशा पीकर उसके उन्माद को जीव अनुभव करता है और कहता है कि मुझे नशा हो रहा है । अर्थात वह साक्षी दे रहा है कि शरीर की बेहोशी का मुझे ज्ञान है। जो वस्तु शरीर के नशे, बेहोशी और अव्यवस्था को अनुभव करती है वह निसन्देह शरीर से पृथक है । (२) शरीर का हाथ पैर आदि कोई अंश कट जाने पर जीव उसका काम दूसरे अङ्गों से निकाल लेता है किन्तु टूटा हुआ अंग बिलकुल निर्जीव हो जाता है । यह ठीक उसी प्रकार है जैसे जूता फट जाने पर भी उस फटे टूटे से मनुष्य किसी प्रकार काम निकाल लेता है किन्तु यदि जूता फेंक

दिया जाय तो उससे दो कदम भी नहीं चला जाता। इसी प्रकार है जीव शरीर से भिन्न वस्तु है। (३) हम जब किसी गहरे सोचे विचार में मग्न हो जाते हैं तो आंखों के सामने जो काम होते कानों के पास ही जो शब्द होते हैं वे नहीं देखे जाते। गहन विचार में से उठने पर पूछा जाय कि तुमने इतनी देर में कुछ सुना या देखा भी? तो यही उत्तर मिलेगा मैंने कुछ देखा न सुना नहीं। यदि शरीर ही जीव होता तो न देखने या सुनने न सुनने का क्या कारण है। (४) बीमार हो जाने पर शरीर के सारे अङ्ग निर्बल और अशक्त हो जाते हैं मस्तिष्क भी निर्बल हो जाता है तो भी विवेक बुद्धि निर्बल नहीं होती। यह अशक्त होने वाला तो शरीर और निर्बल होने वाला जीवात्मा है। (५ किसी मनोरञ्जक पुस्तक को पढ़ने के लिए जी चाहता है पर पढ़ते पढ़ते थक जाने पर दिमाग़ चक्कर खाने लगता है। पढ़ने की इच्छा रहते हुए भी अन्त में यह कह कर पुस्तक रख देनी पड़ती है कि अब मेरा दिमाग थक गया है। यह थकने वाला शरीर है और इच्छा करने वाला जीव है। (६) रेल में सवार होने पर वृक्ष दौड़ते मालूम पड़ते हैं, बनेटी घुमाने पर आग का चक्कर सा बँध जाता है। रङ्गीन चश्मा लगाने पर सब चीज़ें रङ्गीन मालूम पड़ती हैं। फिर भी कोई शक्ति अन्दर से कहती है, वृक्षों का दौड़ना, सब चीज़ों का रंगीन दिखाई देना, झूँठ है मेरी आंखें धोखा खा रही हैं। इसी प्रकार कान, नाक, जिह्वा आदि भी धोखा खाती हैं पर एक अन्दर की शक्ति, उस भूल को पहिचानने वाली शक्ति शरीर से भिन्न जीवात्मा है।

(७) आनन्द, आशा, भय, निराशा, लज्जा, दुःख, शोक आदि कोई दृश्य पदार्थ नहीं है। यह न तो भोजन की तरह मधुर लगते हैं और न सुई की तरह चुभते हैं तो भी आशा प्रद समाचार से बड़ा सुख होता है और शोक समाचार से दुःख होता

है। शरीर तो इन्द्रिय जन्य सुख दुःखों से ही प्रभावित हो सकता है। अदृश्य तत्वोंसे जिसे सुख-दुख होता है वह अदृश्य जीव है।

(८) शरीर शास्त्री बताते हैं कि देह के परमाणु पुराने निकलते जाते हैं और उनके स्थान पर नये आते जाते हैं। सात वर्ष में प्रायः सारा शरीर बदल जाता है। ७० वर्ष की आयु में शरीर तो प्राय: ७ बार बदल जाता है पर बचपन की स्मृतियां ज्यों की त्यों बनी रहती हैं। यदि शरीर को याद रहता तो वह तो सात बार बदल गया। याद रखने वाला जीवात्मा है। (९) यदि बिना ड्राइवर के इञ्जन को चला दिया जाय तो वह जब तक भाप रहेगी तब तक एक ही दिशा को दौड़ता चला जायगा। यदि शरीर पञ्च तत्वों के सम्मिलन से ही बना होता तो एक ही दिशा में इसका प्रभाव जारी रहता किन्तु मन की इच्छानुसार निर्बल और रोगी शरीर भी काम करने को तैयार हो जाता है। इससे प्रकट है कि शरीर के चलाने वाला कोई अलग है।

(१०) जब मनुष्य कोई दुष्कर्म करता है तो भीतर से उसे न करने की प्रेरणा होती है, जब अच्छे कर्म करता है तो आत्मा को सन्तोष होता है। यही प्रेरक शक्ति आत्मा है और शरीर से अलग है।

(११) आविष्कारक, अन्वेषक, कवि, लेखक तथा अन्य महान कार्य करने वाले तभी अपने काम को सफलता पूर्वक कर पाते हैं जब एकान्त में बैठ कर शारीरिक चिन्ताओं से मन को हटा लेते हैं। योगी लोग एकान्त में ही रहते हैं। शरीर से पृथकता अनुभव करने पर ही आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली आत्म शक्ति जागृति होती है। (१२) जिसके निकल जाने से तुरन्त ही शरीर के सारे कार्य बन्द हो जाते हैं। अंग सड़ने और गलने लगते हैं, दुर्गन्ध आने लगती है वही आत्मा है। (१३) सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों की नाप तोल हो सकती है। गर्मी, सर्दी,

हवा जैसे अदृश्य पदार्थों को भी यंत्रों द्वारा नापा जा सकता परन्तु ज्ञान विवेक और बुद्धि की इस लिए नाप तोल नहीं का सकती कि वह शरीर से पृथक, चैतन्य आत्मा के गुण हैं। मैं

(१४) साइन्स कहती है कि प्रकृति के किसी भी प का नाश नहीं होता केवल रूपान्तर होता रहता है। जब रहित अचेतन जड़ पदार्थों का नाश नहीं होता। तो ज्ञान चेतना का भी नाश न होना चाहिये। उसका भी रूपान्तर होता पूर्व जीवन तथा पश्चात् जीवन सिद्ध हो जाता है।

(१५) सभी धर्मानुयायी धर्मसाधना के लिए शारी कष्ट उठाते हैं। महापुरुष तो सिद्धान्त के लिए हँसते हँसते श कटा देते हैं। यदि शरीर ही आत्मा होती तो कोई व्यक्ति से बड़े लाभ के लिए भी अपने को कष्ट न देता।

(१६) इस प्रकार के अनेक तर्क और प्रमाणों से जी को शरीर से पृथक मानना पड़ता है। कई सम्प्रदायों की मान्य यह है कि एक कल्प में एक बार ही जीव पृथ्वी पर आते हैं शेष समय तक एक नियत स्थान पर अपने शुभ अशुभ कर्मों फल प्राप्त करते रहते हैं। यह मान्यता ठीक नहीं क्यों कि य ऐसा होता तो पाप पुण्य से निवृत्त होकर जो प्राणी उत्पन्न हों वे सब एक से होते, किन्तु देखने में यह आता है कि कोई बालक स्वस्थ्य तथा सुन्दर है दूसरा अन्धा, निर्बल, अङ्गहीन, रोगी पागल आदि उत्पन्न होता है। इससे प्रतीत होता है कि पिछ पाप पुण्यों का फल इस लोक में भी प्राप्त होता है। स्वर्ग नर के अस्तित्व और उनमें कर्म फल मिलने की बात का ह खण्डन नहीं करते पर जैसे दस वर्ष के कैदी को दो वर्ष लिए जेल से बाहर निकल कर भी काम करने के लिए अवसर दिया जाता है उसी प्रकार नरक भोग कर शेष थोड़े से पापों को भोगने के लिए इस लोक में भी भेज दिया जाता है ताकि कष्ट

का स्मरण करते हुए शिक्षा ग्रहण करें और भूल सुधार कर सत्कर्म में प्रवृत्त हों।

जन्म मृत्यु का चक्र बँधा हुआ है। जीव मरते और जन्म लेते हैं। यह मानना भ्रम है कि एक बार जन्म लेकर आत्मायें नहीं लौटती और जन्मने वाले प्राणी नई आत्मा होते हैं। यह तो वैसा ही कथन हुआ जैसे कि यह कहा जाय कि हर रात को नये तारे निकलते हैं। और पुराने वापिस नहीं लौटते।

परमात्मा दयालु और न्यायकारी है। किये हुये अच्छे और बुरे कर्मों का फल तुरन्त ही नहीं मिलता वरन् कालान्तर में प्राप्त होता है इसका कारण भी पुर्नजन्म है। अच्छा करते बुरा फल और बुरा करते अच्छा फल प्राप्त होने का कारण यही है कि वर्तमान समय के कर्मों का फल आगे के लिए जमा हो रहा है और पिछले कर्मों का इस समय प्राप्त हो रहा है।

सभी प्राणी मृत्यु से डरते हैं। कारण यह है कि पिछले जन्मों से वे मृत्यु का असहनीय दुख उठा चुके हैं और उसकी याद कर डरते मरने के कष्ट से डरते हैं।

इसके अतिरिक्त अब ऐसी असंख्यों घटनायें हो चुकी जिनमें छोटे बालकों ने अपने पुराने जन्म का परिचय दिया। उन्हें पूर्व जन्म के स्थान में ले जाया गया तो उन्होंने अपने परिचित सभी को भली प्रकार पहचान लिया, नाम ले ले कह संबोधन किया, स्थित बताई, गुप्त संस्करण बताये, जमीन में गढ़े हुए अज्ञात द्रव्य निकाले, वे घटनायें इतनी सर्व विदित तथा प्रामाणिक हैं कि उनकी सत्यता स्वीकार करने से इनकार नहीं किया जा सकता।

उपरोक्त पंक्तियों में हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि जीव शरीर से भिन्न है और वह शरीर के साथ ही नहीं मर जाता वरन् मृत्यु के उपरान्त भी जीवित रहता है और नये

शरीर ग्रहण करता रहता है। वेद शास्त्रों में तो इन म[illegible]
की पुष्टि करने वाले असंख्य प्रमाण भरे पड़े हैं। [illegible]
विवेचन के पश्चात्, तर्क और प्रमाण के आधार पर, [illegible]
को प्रथक और शरीर के बाद भी जीवित रहने वाला [illegible]
पड़ता है।

आत्मा अमर है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण जीव [illegible]
अपने अन्दर धारण किये हुए हैं। आप यह कल्पना करना [illegible]
कि शरीर को छोड़ हम (जीव) अलग होगये हैं तो आ[illegible]
से ऐसा ध्यान कर सकते हैं कि जैसे पत्ती अपने घोंसले [illegible]
छोड़कर बाहर उड़ जाता है वैसे भी आत्मा का बोलता [illegible]
शरीर के घोंसले को छोड़ कर बाहर उड़ गया और श[illegible]
निर्जीव पड़ा हुआ है। इसी प्रकार सूक्ष्म और कारण शरीरों [illegible]
भी छोड़ कर आत्मा के प्रथक होजाने की कल्पना कर सकते [illegible]
पर यह कल्पना नहीं हो सकती कि हम स्वतः मर गये या [illegible]
होगये हैं। कल्पना को कितना भी दौड़ाओ, उसे कितना [illegible]
तीव्र करो पर यह ध्यान किसी भी प्रकार नहीं हो सकता [illegible]
हमारा जीव, चैतन्य दृष्टा, मर गया। कारण यही है कि [illegible]
आत्मा इस बात का पूरा पूरा अनुभव किये हुए है कि मैं अ[illegible]
हूँ और अखंड जीवन जी रही हूँ।

जीवन उस दिन आरंभ हुआ जिस दिन एक परमा[illegible]
ने बहुत होने की इच्छा की। बहुत एक जिस दिन बन जाय[illegible]
उस दिन इस जीवन का अन्त होजायगा। मकड़ी अपने पेट [illegible]
से थूक निकालती है और उसका दृश्यमान जाला पर देती [illegible]
जब उसे समेटना होता है तो उस जाले को उलटा निगलता आर[illegible]
कर देती है और उसे समेट कर दृश्य मान को अदृश्य कर दे[illegible]
है परमात्मा के अन्तराल में से यह दृश्यमान पदार्थ निकले [illegible]
जिस दिन वह इस सबको समेट कर अपने आप में विल[illegible]

कर लेगा उस दिन विश्व के जड़ चेतन पदार्थों का जीवन समाप्त हो जायगा।

एक दिन सृष्टि के दृश्यमान पदार्थों का अन्त होता है। ऐसी समस्त तत्व ज्ञानियों की मान्यता है। प्रलय, कयामत, अन्तिमदिन, आदि नामो से विराम दिवस को सभी धर्म सम्प्रदाय मानते हैं। प्रलय के बाद फिर नवीन सृष्टि आरंभ होती है। मकड़ी फिर अपना जाला फैला देती है। परमात्मा के गर्भ में से जीव और प्रकृति का पुनः प्रसव होता है। जीवन फिर आरंभ हो जाता है। सृष्टि के बाद भी उन्हीं, पूर्व सृष्टि के जीवों का पुनः अवतरह होने की मान्यता में तो अखंड जीवन स्वीकार न करने के लिए कोई स्थान ही नहीं है। यदि एक जीव एक सृष्टि तक ही आस्तित्व माना जाय तो भी जीवन को अखंडता में बाधा नहीं आती। क्यों कि सार्वभौम चैतन्य तत्व परमात्मा अविनाशी हैं फिर उसका परमाणु नाशवान कैसे हो सकता है। जब तक सूर्य है तब तक गर्मी भी है। अमर परमात्मा का अंश भी अमर ही रहेगा।

एक शरीर के जीवन में अनेकों वस्त्र हम पहनते हैं और फटजाने पर, पुराने होने पर, अरुचि कर होने के कारण, अधिक अच्छे कपड़े मिल जाने से, किसी विशेष कार्य के लिए विशेष वस्त्रों की आवश्यकता होने की दशा में पुरानों को छोड़ कर नवीन वस्त्र पहिनते हैं। आपकी आयु यदि चालीस वर्ष है तो निस्संदेह आप सैकड़ों हजारों अच्छे और बुरे वस्त्र पहन चुके होंगे। यह वस्त्र आये और चले गये पर आपके शारीरिक जीवन पर उन कपड़ों का कोई विशेष प्रभाव न हुआ। समाज में आपके व्यक्तित्व का आदर होता है कपड़े का नहीं। मनुष्य की महानता उसकी आत्मिक महानता में है एक सद्गुणी, विद्वान, बुद्धिमान, कुशल, सूक्ष्म व्यक्ति की

प्रतिष्ठा होती है पर मोटे पेट वाले, या गोरे चमड़े वाले नि
दुर्गुणी, मूर्ख या पागल का कोई आदर नहीं करता ।
विदित है कि कपड़े से शरीर का और इसी प्रकार शरी
आत्मा का दर्जा ऊंचा है।

पैर में चोट लग जाने पर हम रूमाल फाड़ कर
पट्टी बांध देते हैं और इस बात की परवाह नहीं करते कि
फट गया, तौलिया से शरीर पोंछते हैं वह घिसकर जल्दी
जाती है, पहनने से कपड़े भी फटते ही हैं पर ऐसा
कोई नहीं करता कि इन कपड़ों को सुरक्षित रखने के
शरीर को नङ्ग धड़ंग फिरने दें। ऐसा कंजूस तो शायद
दिखाई पड़े तो रूमाल फट जाने पर उसे शरीर का खून
कर चिपकावे परन्तु कैसे आश्चर्य की बात है कि सारा
समाज उसी कृपण कंजूस का अनुकरण कर रहा है
रूमाल की मरम्मत देह का खून निकाल कर करता था
कपड़े को सुरक्षित रखने के लिए नङ्ग धडंग फिरता
आत्मिक स्वार्थ के लिए शरीर का उपयोग वस्त्र की तरह
चाहिए किन्तु दुनियां की उलटी बुद्धि को तो देखिए शरी
भरण पोषण के लिए इन्द्रिय भोग आत्मिक स्वार्थ का ब
कर रही हैं। शारीरिक आवश्यकताओं के लिए आध्या
गौरव और आनन्द का निरंतर हनन कर रही है।

आध्यात्म शास्त्र कहता है कि मनुष्यों ! जीवन का
समझो। जीवन की गूढ़ समस्या पर गंभीर विचार
जीवन अखंड है इस सत्य को समझो और हृदयंगम
माना कि आपकी जिह्वा का ग्रामोफोन 'अमर आत्मा' '
आत्मा, कहना जानता है पर इतने मात्र से कुछ काम न चले
सच्ची प्रगति उस दिन आरम्भ होगी जिस दिन वास्त
जीवन को—अखण्ड जीवन को, आप प्रधानता देंगे और

महान जीवन के हानि लाभ की दृष्टि से वर्तमान शरीर के सम्पूर्ण सिद्धान्तों और कार्यों पर विचार करेंगे।

—:*—*:—

जीवन की आरम्भ।

शास्त्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि सृष्टि के आरम्भ 'एकोऽहं वहुस्याम' (मैं एक से वहुत हो जाऊँ) ऐसी इच्छा परमात्माने की तदनुसार उसने अपने को अनेक अंशों में विभाजित कर दिया। कढ़ाई में खौलता हुआ तेल जब जोश खाता है तो उसमें खुदबुद खुदबुद करते हुए बुलबुले उठते हैं। झरने के प्रपात से नीचे गिरता हुआ पानी अगणित बबूले उत्पन्न करता है। यह तेल के बुलबुले तेल की स्वाभाविक आकृति से और पानी के बबूले पानी की स्वाभाविक आकृति से भिन्न होते हैं। तो भी वे मूलतः तेल या पानी के ही अंश हैं यद्यपि पानी या तेल शान्त, स्वच्छ, और एक रस वस्तु है तो भी यह बुदबुदे और बबूले पानी के ही अंश हैं। हवा मिलने से पानी का यह बबूले जैसा रूप बन गया है।

मोटी दृष्टि में देखने में हवा, पानी और बबूला तीन वस्तुऐं मालूम पड़ती हैं। पर एक विज्ञान बादी विद्वान् के लिए, जो हवा पानी और बबूले का वास्तविक रूप जानता है- यह सब एक ही तत्व की विभिन्न आकृतियां हैं। हाइड्रोजन और आक्सिजन वायु के मिलने से पानी बन गया है और वह पानी फिर वायु के लपेटे में आया है तो एक नई शक्ल में बबूला बन गया है। इसी प्रकार ईश्वर जीव और प्रकृति यह तीन दृपार्थ पृथक दृष्टि गोचर होते हैं तो भी यह तत्वतः एक ही

ईश्वर के तीन रूप हैं। प्रकृति ज्ञान रहित है तो भी गति शील है।

परमाणुओं का आपस में मिलने से नवीन वस्तुओं बनना और उन परमाणुओं के बिछुड़ने से उस वस्तु का जाना निरन्तर जारी रहता है। प्रकृति जड़ है ज्ञान रहित है भी वह गतिशील है, उसका एक एक परमाणु रेल गाड़ी के चाल से अपनी धुरी पर निरन्तर घूमता रहता है। इस प्र को जड़ कहा जाता है जिसका तात्पर्य इतना ही है उसके प णुओं में सोचने विचारने की शक्ति नही है। जड़का अर्थ नहीं है उसमें गति में नहीं है। गति शील तो सृष्टि की हर परमाणु है। उसी हलचल के आधार सपूर्ण भौतिक पदार्थों विनाश और विकाश हो रहा है।

जिस प्रकार दिखाई देने वाले पंच भौतिक परमाणु से मिलकर प्रकृति का कार्य संचालन होता है। उसी प्र चैतन्य महातत्व ईश्वर के परमाणुओं को आत्मा कहते आत्मा के आकार के सम्बन्ध में उपनिषदों में कहा गया कि यदि बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े किये जांय और टुकड़ों में से एक टुकड़े के फिर सौ टुकड़े किये जांय तो उन टु से भी आत्मा का आकार सूक्ष्म है। वास्तव में यह व्याख्या अधूरी है क्यों कि भौतिक पदार्थों के अणुओं की तो नाप हो सकती है पर चैतन्य तत्वों को तोलने नापने या आ निर्धारित करने का कोई पैमाना नहीं बना है। ईश्वर के कितने आकार प्रकार के हैं इस सम्बन्ध में कुछ ठीक ठीक नि करना कठिन है। बुद्धि जन्य चेतना स्वीकार करती है कि आत्मा है। पर उसकी लम्बाई चौड़ाई के सम्बन्ध में कुछ नहीं चलता है।

आत्मा को शास्त्रों में तेज स्वरूप कहा गया है। यहां

का अर्थ चमक से नहीं है वरन् दल, प्रेरणा, प्रगति, हलचल, महत्ता कहा जाता है। एक शब्द में इसे विकाश या ऊर्ध्वगमन कह सकते हैं। पंच भूतों में अग्नि को सबसे अधिक सूक्ष्म कहा जाता है कारण यह है कि अन्य तत्वों की अपेक्षा उसमें प्रेरणा या ऊर्ध्वगमन अधिक होता है। अग्नि की लपटें तथा उसका धुआं सदैव ऊपर ही उठता है। कर्म कोटि में आत्मा तेज स्वरूप है। गुण कोटि में आत्मा-ज्ञान स्वरूप है। वह निरन्तर अधिक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं बालक गर्भ में आते ही कुछ सीखना आरम्भ करता है और उस शिक्षा की गोद में, घर में, खेल में, स्कूल में, व्यापार में; सत्संग में, साधन में, मृत्यु समय तक बढ़ता ही जाता है। चाहे कोई व्यक्ति पागल, अन्धा, बहरा, गूंगा या अन्य किन्हीं व्यथाओं से कितना ही ग्रसित क्यों न हो, उसको जानने की इच्छा मिटती नहीं। 'तेज और ज्ञान' यही आत्मा के दो हाथ पांव हैं जिनके आधार पर अपनी यात्रा जारी रखता है, ऊँचा चढ़ता है और छोटे से बड़ा, बन्ध से मुक्त, तुच्छ से महा आत्मा से परमात्मा, हो जाता है। जीवन का विकाश तेज और ज्ञान की आधार शिला पर स्थित है। स्वभाव कोटि में आत्मा सच्चिदानन्द (सत् + चित् + आनंद) स्वरूप है। सत् का अर्थ है सतत रहने वाला, सदैव स्थिर, शाश्वत, अविनाशी, अखंड, कभी नष्ट न होने वाला। चित का अर्थ है-चैतन्य, जागृत, विचारवान, बुद्धिजीवी, स्वतंत्र कर्ता, निर्माता। आनन्द का अर्थ है—सुखी, प्रसन्न, खुश, दुख रहित। यह सब स्वभाव आत्मा के हैं। और भी अनेक गुण हो सकते हैं पर वर्तमान समय तक आध्यात्मिक अन्वेषक जितनी शोध कर सके हैं, उनके अनुसार आत्मा सच्चिदानंद स्वभाव वाला ही माना गया है।

आत्मा के सम्बन्ध में थोड़ी सी जानकारी प्राप्त कर लेने के उपरान्त कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं । वह यह कि जब आत्मा पवित्र ईश्वर का अंश, और तेज स्वरूप, ज्ञानवान, आनंद तथा अविनाशी है तो मनुष्यों का जीवन पाप मय और दुःखी क्यों होता है ? जब आत्मा सब में एक समान है तो कोई पापी कोई पुण्यात्मा क्यों है ? एक दूसरे के विचार और कार्य में भिन्नता क्यों है ? योग्यता की दृष्टि से विभेद क्यों पाया जाता है ? इसका कारण जानने के लिए आपको हमारी 'ईश्वर क्या है ? कहां है ? कैसा है ?' पुस्तक का जीव और ईश्वर प्रकरण पढ़ना होगा । यह अलग अलग प्रकार के काम आत्मा द्वारा नहीं जीव द्वारा होते हैं । जीव और ईश्वर को एक नहीं कहा जा सकता वह प्रथक प्रथक दो वस्तुऐं हैं । हां आत्मा और परमात्मा पानी और बबूला जितने जरा से भेद के होते हुए भी एक हैं । आत्मा को परमात्मा कहने में कुछ दोष नहीं, चिनगारी और अँगार में नाम मात्र का अन्तर है । उँगली में बहने वाले खून की और सारे शरीर में बहने वाले खून को दो नहीं कहा जा सकता । किन्तु जीव के बारे में यह बात नहीं है । वह प्रथक वस्तु है ।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर के अहंकार को जीव कहते हैं । आत्मा जब जीवन धारण करता है तो अपने लिए कुछ मकान, औजार आदि जरूरी चीजें ग्रहण करता है । जैसे आप कहीं रहने के लिए नई जगह बनानी हो तो वहां मकान, भोजन, सामिग्री, बर्तन, लाठी, जूता, चाकू, दीपक आदि एकत्रित करते हैं । इसी प्रकार पंचभूतों से बना हुआ स्थूल शरीर, बुद्धि चित्त, अहंकार से बना हुआ सूक्ष्म शरीर एवं वासना संकल्प स्वरूप कारण शरीर, आत्मा के औजार बनते हैं । मोटा उदाहरण लीजिए पेट को भूख की प्रेरणा होती है

इच्छा उठती है कि भोजन करें, इसी प्रकार आत्मा को प्रेरणा होती है कि जीवन धारण करे यह संकल्प या वासना रूप कारण शरीर हुआ। अब भोजन की इच्छा होने पर दिमाग में एक मानस चित्र बनता है कि आज तो दाल, चावल, हलुआ, पूड़ी या अमुक चीजें खानी चाहिए, उन खाद्य पदार्थों के रंग, रूप, खट्टे, मीठे स्वाद, मूल्य, सुविधा, कठिनाई, परिणाम, आदि का एक नकशा बन जाता है। यह नकशा या मानस चित्र सूक्ष्म शरीर है मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के सम्मिश्रण से इसका निर्णय हुआ जैसे मन ने चाहा लड्डू, खायेंगे, बुद्धि ने सोचा लड्डू, अमुक दुकान पर मिलेगा चित्त ने स्वीकार किया हां लड्डू खाना ठीक है वह स्वादिष्ट भी है और बलकारक भी है जब तीन फैसले होगये तो लड्डू खाने का एक निश्चय होगया यह निश्चय विश्वास या संस्कार कहा जायगा। आपने समझा होगा कि जो कार्य करने को तैयार हो रही है उसका भावी चित्र निर्माण करने वाला और जो कार्य हो चुके हैं उनकी याददास्त के चित्र सुरक्षित रखने वाला सूक्ष्म शरीर है। जब आपके विचार कार्य रूप में परिणित होते हैं। कल्पित भोजन जब क्रिया द्वारा तैयार होजाता है और सामने आकर प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है एवं मुख में होता हुआ पेट से पहुँचता है तब वह स्थूल शरीर बन जाता है। आंखें उसके स्वरूप को देखती हैं, नाक उसकी सुगन्ध लेती है, जिह्वा स्वाद चखती है, त्वचा छूती है और पेट भर जाता है। इसी प्रकार आन्तरिक इच्छा के अनुसार सूक्ष्म शरीर की भावनाओं के अनुरूप स्थूल शरीर बन जाता है। स्थूल शरीर मिट्टी, पानी, हवा आग आकाश आदि के परमाणुओं के मिलने से रक्त, मांस हड्डी आदि उपकरणों का बना होता है, सूक्ष्म शरीर वैसे तो अदृश्य होता है पर विशेष आत्मिक साधनों से उसे देखा जा सकता है। मरने के बाद जो पदार्थ निकलता

है वह धुंधला, भूरा, भाप जैसा, वजनदार, उड़ता हुआ, ठ
पदार्थों को छेद कर पार होजाने वाला होता है और दू
दर्शक यंत्रों से इसे देखा जा सकता है। मन, बुद्धि, चि
अहंकार चार अलग अलग पदार्थ नहीं हैं, जैसे रक्त; मांस
भिन्न भिन्न पदार्थ हैं वरन् एक ही विचार शृङ्खला है। यह वि
शृङ्खला कई तरह के काम करने के कारण कई नामों से पु
जाती है जैसे एक मनुष्य भीख मांगता हो, गाना गाता
पहलवानी करता हो, और चिकित्सा करता, हो तो जिस व
का काम कर रहा होगा अनजान व्यक्ति उसे वैसे ही ना
से पुकारेगा। कोई उसे भिखारी, कोई गायक; कोई पहलवा
कोई चिकित्सक कहेगा। इसी प्रकार इच्छा करते समय म
तर्क और निर्णय करते समय बुद्धि, रुचि और आकर्षण
समय चित्त, और विश्वास तथा संस्कार बनजाने की द
में उसे अहंकार कहा जाता है। यह सूक्ष्म शरीर की च
इन्द्रियां हैं जैसी कि स्थूल शरीर की दश इन्द्रियां हैं। स्म
रखना चाहिए कि इन्द्रियों को जो महत्व दिया जाता है
मन का है। स्वयं इन्द्रियां बेचारी कुछ नहीं। जीभ ना
मांस का टुकड़ा जो मुंह में लगा हुआ है बेचारा कुछ
चाहता, मन जब स्वाद की इच्छा करता है तो 'जिह्वा प्रबल
ऐसा कहा जाता है। यदि जिह्वा कोई स्वाद चाहती तो भू
प्यास, छींक, मल मूत्र त्याग की शारीरिक इच्छाओं तरह
पड़ाके खाने का इच्छा भी सबको प्रबल होता परन्तु दे
जाता है कि चटोरे मन वाले तो लप लप सारे दिन बकरी
सा मुंह चलाते हैं और संयमी मनुष्य नियत समय पर
साग सत्तू मिल जाता है उसी से संतुष्ट हो जाते हैं। नाक
अगल बगल गड्ढों में रखे हुए नेत्रों के गोले बे
क्या इच्छा करेंगे कि हमें नाच दिखाओ वे गरीब तो

की तरह मालिक मन को अपनी पीठ पर बिठाकर उसकी आज्ञा पालन किया करते हैं। जिस प्रकार स्थूल शरीराभिमानी चेतन मन की सुनने, देखने, चखने, सूँघने स्पर्श करने सम्बंधी इच्छा जिस इन्द्रिय द्वारा पूरी होती है उस इच्छा पूर्ति से उसी इन्द्रिय का कार्य समझा जाता है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीराभिमानी चेतना के चार कामों को-मन बुद्धि चित्त अहंकार नाम से पुकारा जाता है। वस्तु एक ही है सर्व साधारण की जानकारी की सुविधा के लिए कार्यों के अनुसार नामों को अलग अलग कर दिया गया है। कारण शरीर संकल्प मात्र है। 'मैं जीवन जिऊँ' इतनी सी भावना की प्रेरणा का एक बीज जो अपने प्रबल आकर्षण के अनुसार सृष्टि के तत्वों में से अपने योग्य संपूर्ण सुविधाऐं और साधन खींच लेता है कारण शरीर है। इस कारण शरीर का रूप, आकर अत्यंत ही सूक्ष्म है 'विश्वास की गांठ' इतने से शब्दों के आधार पर पाठक आत्मा के कारण शरीर की कुछ थोड़ी सी कल्पना कर सकते हैं।

हमें आत्मा और जीव का अन्तर पाठकों को बताना था उसी की भूमिका बांधते हुए उपरोक्त पंक्तियों में जीव के तीन शरीरों पर प्रकाश डाला गया है। इन तीनों शरीरों के नाना प्रकार के कार्यों की अभ्यस्त एक स्वतंत्र चेतना बन जाती है। जड़ चेतन की दृष्टि से यह गतिमान होते हुए भी जड़ ही ठहराई जायगी। वैसे तो जीव सोचता विचारता कर्म करता, प्रगति करता, दिखाई देता है पर वास्तव में इसका प्रकाश स्वयं अपना नहीं है। चन्द्रमा में चमकने योग्य कुछ नहीं है पर सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा चमकता है और दर्पण पर दीपक की रोशनी पड़ने से जैसे प्रकाश उत्पन्न होता है वैसा ही चन्द्रमा पर सूर्य का प्रकाश पड़ने से चांदनी निकलती है।

आत्माने अपने लिए जिन तीन शरीरों को चुना है वे दर्प
चन्द्रमा के समान हैं आत्मा रूपी सूर्य का इन पर प्रकाश
से एक चकाचौंध उत्पन्न होता है। यही जीव है। प्रकाश
से उत्पन्न हुआ है तो भी वह सूर्य नहीं है, जीव सर्वस्व से
हुआ है तो भी यह अल्पज्ञ है। विभु से उत्पन्न हुआ है
यह अणु है।

जड़ प्रकृति से बने हुए तीन शरीरों और चैतन्य
के संसर्ग से बने हुए जीव की श्रेणी निर्धारित करना बड़ा
है। विद्वानों में इस विषय पर बड़ा मत भेद है। खिच्चर
घोड़ा कहा जाय या गधा यह बड़ा टेढ़ा प्रश्न है। प्रलय की
में जीव का अस्तित्व नहीं रहता और आत्मा परमात्मा में वि
हो जाता है इसी प्रकार मुक्ति की दशा में भी जीव का
समाप्त होजाता है आत्मा शरीर पर स्वयं शासन करता
इन दोनों दशाओं में जीव की हस्ती मिट जाती है।
दृष्टि से उसे नाशवान जड़ कहना पड़ता है। प्रकृति में सो
विचारने का गुण नहीं है किन्तु जीव के पास बुद्धि
चैतन्यता है इस लिए उसे चैतन्य कहना पड़ता है।
खिच्चर को घोड़ा कहने वालों का पक्ष भी प्रबल है
गधा कहने वालों को भी झूठा नहीं कहा जा सकता।
लिए द्वैत वादियों और अद्वैत वादियों का विरोध युगों
चला आ रहा है और उसका अन्त होता हुआ नहीं दि
देता। अद्वैत वादी कहते हैं कि आत्मा ही मनुष्य है। जीव
उसकी एक क्रिया है जो बन्द भी हो सकती है इस लिए
कर्ता नहीं कहा जा सकता है। आत्मा और परमात्मा एक है
लिए अद्वैत मत ठीक है। द्वैत वादी कहते हैं कि जीव
अल्पशक्ति वाली स्वतंत्र सत्ता है जो शरीर का स्वयं संचा

करती है। वे परमात्मा को जीव से पृथक और उसका शासक मानते हैं।

जीव के स्वरूप को जानने के लिए एक उदाहरण के आधार पर उसे मन में बिठाना होगा। मान लीजिए गीली लकड़ियां जल रही हैं और धुआं हो रहा है धुएं का विश्लेषण कीजिए कि यह क्या है? कालापन, नमी, और हवा, जो उसके अन्दर है वह लकड़ियों का रूपान्तर है और गर्मी जो उसमें है वह अग्नि का संसर्ग है। जीव एक प्रकार का धुआ है जो लकड़ी और अग्नि के, संसर्ग से प्रकृति और आत्मा के संयोग से-बना है। यह धुआं गुणों, में अग्नि और लकड़ी के दोनों से कई अंशों में मिलता है और कई में विपरीत या विरुद्ध है। अग्नि या लकड़ी दोनों में से कोई भी काला नहीं है पर धुआं काला है। रसायन क्रिया अनुसार दो वस्तुओं के मिश्रण से एक अलग गुण वाली वस्तु बनती है। तेल और सोडा के गुणों से बने हुए साबुन में एक अलग गुण है। साबुन न तो तेल की तरह चिकनाई के धब्बे लगाता है और न कास्टिक की तरह गला देता है। वरन् उसमें झाग देने की एक नई योग्यता हो जाती है। आत्मा केवल सत चित, आनंद, तेज और ज्ञान स्वरूप है पर जीव मरण शील, सुख और दुख वाला, विकसित और आलसी ज्ञानी और अज्ञानी सभी तरह के गुणों वाला है। यह पुण्य की ओर चलता है और पाप की ओर भी लौट पड़ता है।

परमात्मा की इच्छानुसार आत्मा जीवन जीने का संकल्प करता है, जीव उस इच्छा की मूर्तिमान प्रतिमा है। राजा इच्छा करता है कि अमुक प्रदेश पर चढ़ाई करूँ आज्ञा पाते ही सेना पति अपनी सेना को लेकर उस देश पर चढ़

दौड़ता है। और युद्ध करता है। सेनापति राजा का नौकर वह चाहे तो उसे नौकरी से छुड़ाकर भगा सकता है। राजा राज्य से ही सेनापति की सेनापतिगीरी है। यदि राज्य रहे तो उसका सेनापतिगीरी भी कुछ न रहेगी। इस आत्मारूप राजा का जीव सेनापति है अथवा मन्त्री है आत्मा निर्लिप्त, अविकारी, पवित्र और अविनाशी होने कारण अपने महान गौरव को अनुभव करती है और जी का सितार बजाने का काम जीव रूप गवैये को सौंप देती और खुद साक्षी रूप देह में रह कर उसका संगीत श्रवण कर है। राजा स्वयं लड़ने नहीं जाता सेनापति उसकी इच्छा पू करने के लिए युद्ध के साज सजाता है। गवैये को अधिक होता है कि वह अपनी इच्छानुसार सितार बजावे, सेनाप को अधिकार होता है कि मोर्चे बन्दी करने, आक्रमण कर अमुक अस्त्र का अमुक प्रकार प्रयोग करने, की योजना बनावे साक्षी रूप आत्मा अपने अधीनस्थ गवैये या सेनापति सलाह तो देता है पर हर घड़ी उनके काम में हस्तक्षेप न करता। कोई गवैया मक्कारी करे और उलटा सीधा बा बजावे या कोई सेनापति अपने प्रभाव के कारण सेना उपयोग अन्य उलटे कार्यों के लिए करने लगे तो अत्यन्त धैर्यवान, गंभीर और निर्लिप्त आत्मा उसे अविचल भाव यह सब होता हुआ देखता रहता है और अपने निष्पक्ष न्याय के अनुसार यथा समय गवैये या सेनापति को न्यायाल में भेज कर व्यवस्थानुसार दंड वा प्रबंध कर देता है। कर्म करने में स्वतंत्र होता हुआ भी जीव फल पाने में आत्मा के आधीन है।

—:※—※:—
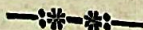
जीवन का स्वरूप।

जीवन के आरंभ, विकाश और अन्त की जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात जीवन का स्वरूप जानने में कुछ अधिक कठिनता न होनी चाहिए। पत्थर को सर्दी गर्मी, हर्ष शोक का भान नहीं होता क्यों कि उसके अन्दर चैतन्य तत्व नहीं है। चैतन्य प्राणियों को सृष्टि की हर एक हलचल का अनुभव होता है। मेघों की घटाऐं उठती देखकर मोर तक नाचने लगते हैं, शरद में खंजन पक्षियों का झुण्ड किलकारियां मारने को बाहर निकल आता है, वसन्त में कोयलकी कूक सुनते ही बनती है। मनुष्य अधिक संवेदना शील है इस लिए उसे प्रकृति की बहुत छोटी हलचलों को भी अनुभूति होती है। परन्तु यह सब हर्ष शोक होते तभी तक है जब तक शरीर जीवित है। मृतक शरीर को कुछ भी हर्ष विषाद नहीं होता। इससे यह जाना जाता है कि दुख शोक की झंकार चैतन्य तत्व में से निकलती है। सारंगी के तारों पर चोट लगी कि वह झन झनाई, तबला, सितार, बांसुरी, नफीरी, ढोल, मजीरा चोट खाते ही अपना शब्द करने लगते हैं। माना कि उँगलियों की चोट से बाजे तरंगित होते हैं पर जो शब्द निकलता है वह बाजे में से ही निकलता है। उँगलियों को यदि धरती पर पटका जाय तो न तो सितार की सी ध्वनि निकलेगी और न हारमोनियम का सा स्वर निकलेगा। इससे जाना जाता है कि सुख दुख जीव का अपना विषय है।

पाठक जानते हैं कि आत्मा सत चित और आनन्द स्वरूप है। उसका धर्म आनंद है। दुख तो आनंद के अभाव को कहते हैं जैसे दुख कोई वस्तु नहीं है। ज्ञानके अभाव को अज्ञान,

प्रकाश के अभाव को अन्धकार कहा जाता है वैसे ही सुख का अभाव दुख है। सूर्य से उत्पन्न होने वाला प्रकाश सर्व व्यापक है किन्तु किरणों के बीच में किसी वस्तु का पर्दा आजाने से अँधेरा हो जाता है ऐसे ही आनन्द रूप आत्मा और जीवन के बीच में अज्ञान का पर्दा आजाने से अन्धकार रूपी दुख दृष्टि गोचर होता है अन्यथा दुख दायक किसी वस्तु का जीवन के आवश्यक तत्वों में नहीं है।

जीवन का मूल स्वरूप दुखमय नहीं वरन् आनन्द मय है। ईश्वर ने संसार की रचना इसप्रकार की है कि उसके सभी कार्य हमारे लिए सुख और सुविधा प्रदान करने वाले हैं। सृष्टि में अज्ञान के अतिरिक्त एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो दुख दायक हो। मित्र, परिवार, स्त्री, पुत्र, भाई, बहन, परिचित अपरिचित सभी पर दृष्टि डालिए यह सभी अपने हित चिन्तक, सहायक, स्नेह भाजन एवं सुख दायक हैं।

एक क्षणके लिए अपने कलुषित स्वार्थ पूर्ण एवं छिद्रोन्वेषी विचारों को उठाकर अलग रख दीजिए और भावना कीजिए कि मैंने गुण ग्राहकता स्वीकार करली है और वस्तुओं के केवल गुण ही देखता हूं। अब आप हर वस्तु पर विचार कीजिए। माता मुफ्त में दूध पिलाने वाली और बिना नौकरी लिए हर वक्त सेवा करने वाली है। पिता चौकीदारी करता है, लालन पालन की व्यवस्था का भार सहन करता है। अध्यापक बहुमूल्य ज्ञान को घोल घोल कर पिलाता है। भाई और बहिन अपना स्नेह और सहयोग सदैव देते रहते हैं। मित्र मनोरंजन ज्ञान वृद्धि और महत्व प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। नौकर हुक्म बजाने के लिए तैयार रहते हैं। स्त्री अपना प्रेम रस पिलाती है। पुत्र ऐसा बढ़िया खिलौना है जैसा अपार धन खर्च करने पर भी नहीं खरीदा जा सकता। परिवार से बाहर की

बात देखिए हर तरफ से सहायता बरसी पड़ रही है। पुलिस सुरक्षा के लिए खड़ी है, डाकखाने वाले दूर देशों का समाचार लाते लेजाते हैं। दुकानदार कैसे कैसे सुन्दर भोजन वस्त्र लिए बैठे हैं। कल कारखाने कैसे कैसे आनन्द दायक पदार्थ बना रहे हैं। प्रकृति जन्य कार्यों की ओर ध्यान दीजिए सुन्दर ऋतुएँ, उत्पादित कंद मूल, फल फूल, लता वृक्ष, नदी, पर्वत, धातु, रत्न, आदि अनेकानेक उत्पादन हमारे लिए कितने लाभदायक और सुविधा जनक है। पशु पक्षियों तक, कीड़े मकोड़ों द्वारा हमारा कितना लाभ होता है। भौतिक दृष्टि से, शारीरिक सुविधा के खयाल से, चारों ओर आनन्द ही आनन्द है। दुख तो आटे में नमक की बराबर है सो भी स्वाद परिवर्तन मात्र के लिए अन्यथा चारों ओर आनन्द का ही सागर लह रहा है।

मानसिक दृष्टि से देखा जाय तो सृष्टि की सारी व्यवस्था जीव की आत्मोन्नति के निमित्त है। कितने ही प्रबन्ध तो ऐसे हैं जो अनिच्छा रहते हुए भी बलात् जीव को उन्नति की ओर उड़ाये लिए जा रहे हैं। भूख, प्यास, निद्रा, मलत्याग, कामेच्छा आदि शारीरिक वेग उठते हैं कर्म करने के लिए बलात प्रेरित करते हैं। शास्त्र कहते हैं कि आलस्य ही नरक और कर्तव्य ही स्वर्ग है। जीव कहीं प्रमोद वश कर्तव्य करना भूल न जाय इसलिए ईश्वर इन वेगों की धक्के वाजी जारी रखती है वह ठेल ठेल कर हमें आगे बढ़ाती है। स्त्री के कारण, प्रेम का कुछ न कुछ संचार होता ही है। पुत्र के कारण त्याग करना ही पड़ता है। पिता माता को देखकर कृतज्ञता श्रद्धा का कुछ न कुछ आविर्भाव होगा ही। भाई बहनों के प्रति आत्मीयता बढ़ेगा, मित्रों की सहायता, सहयोग करने के भाव उठेंगे कहां तक कहें बूरे से बुरे प्रसंग भी हमारे मन पर एक छाप इस प्रकार की छोड़ते हैं जो आत्मोन्नति में सहायक होती है। प्रिय जनों की

मृत्यु से वैराग्य आता है, पीड़ा से ईश्वर की याद आती है। के समय भविष्य में अधर्म न करने का मन होता है, दूसरों अन्याय करते देखकर कुकर्म विरोधी रोष उत्पन्न होता शत्रुओं से आत्म रक्षा का, चोरों से सावधानी का, उटाई गी सतर्कता का, आवश्यकता से आविष्कार का, जन्म विकाश होता है। सृष्टि की एक भी "बुरी बात" ऐसी नहीं जो हमारी आन्तरिक चेतना विकसित, सतर्क और तीव्र क हुई ज्ञान वृद्धि में, आत्मोन्नति में, सहायक न होती। इस प्रकार तत्वतः जगत का प्रत्येक कार्य जीवनोपयोगी होने कारण सुख प्रद ही है, अज्ञान के कारण बच्चा अँधेरे में से डरता है, काली तस्वीर को देखकर भयभीत होता है रस्सी को सांप समझ कर घबरा जाता है। इसी तरह हम अपने अज्ञान के कारण सुख जनक और हितकारी कार्यों में दुख मानते हैं।

यदि वास्तविक दुखदायक घटनाएं ढूंढी जांय शारीरिक पीड़ाओं सम्बन्धी कुछ घटनाए पाई जासकती पर उनमें भी जितना दुख होता है उसका तीन चौथाई मान और एक चौथाई शारीरिक होता है। बीमारी में, घाव फोड़े में, पीड़ा तो होती है पर शारीरिक कष्ट असहनीय होता, मानसिक दुख की ही उसमें प्रधानता होती है। को चिरवाने के लिए रोगी प्रायः तैयार नहीं होते क्योंकि जानते हैं कि बड़ी से बड़ी बीमारी में उतनी पीड़ा नहीं जितनी कि ओपरेशन के समय होती है। रोग में एक का अशक्तता मय नशा सा छाया जा रहता है जिसमें कष्ट आसानी से सहन कर लिया जाता है। मृत्यु के समय भी प्रकार की बेहोशी होजाती है और मृत्यु कष्ट को प्राणी ही सहन कर लेता है। शस्त्र प्रहार में शारीरिक कष्ट होता

वह भी मानसिक ही है। हिरन पैर में गोली खाकर भी दौड़ता रहता है, युद्ध में घायल सिपाही भी वीरता पूर्वक लड़ते रहते हैं। देश भक्त योद्धा फांसी के तखते को हँसते हुए चूमते हैं। क्षत्राणियां अपने हाथ तलवार से अपना शीश उतार देती हैं। पूर्वकाल में सती प्रथाऐं के अनुसार प्राण देने वालीं महिलाऐं विचलित नहीं होती थीं। बन्दा बैरागी जलते हुए तवे पर तिल तिल करके भुना। दधीचि ने जीते जी अपनी हड्डियां निकालदीं। आत्म हत्याओं के समाचार तो हम आये दिन सुनते रहते हैं। यह घटनायें बताती हैं कि शस्त्र प्रहार का कष्ट वास्तव में उतना नहीं होता जितना समझा जाता है। शरीर शास्त्र के पंडित जानते हैं कि कठोर प्रहार होने पर तुरंत ही उस स्थान में सुन्नता आजाती है। भावावेश से कई वार यह पता भी नहीं चलता कि हमारे कोई बड़ी चोट लग गई है। पीछे खून देखकर उस प्रहार की गंभीरता का पता चलता है। मरते समय या, शस्त्र प्रहार से कष्ट तब होता है जब प्राणी अपनी बेबसी, लाचारी और असहायता अनुभव करता है। किसी मनुष्य को बांधकर पटक लिया जाय और उसे भयभीत, दयार्द्र, असहाय बनाते हुए मार डालने का भाव बनाते हुए एक सुई की बराबर भी छुरी नोंक चुभोई जाय तो उसे पचास छुरे एक साथ भोंक देने का सा कष्ट होगा। वास्तव में वह दुख शारीरिक नहीं वरन मानसिक था। हमारा तात्पर्य यह बताने का है कि जीवन से सम्बन्ध रखने वाले संसार के किसी भी कार्य में तत्वतः दुख नहीं है। यदि दुख है भी तो वह आटे में नमक की बरावर स्वाद परिवर्तन के लिए है। जीवन की आधार शिला आत्मा है, आत्मा आनन्द मय है इस लिए जीवन भी आनन्द मय है। सूर्य प्रकाश मय है इस लिए उसकी किरणें भी प्रकाश मय ही हैं। दुख और कुछ नहीं एक

अज्ञान जन्य भ्रम है जो अन्धकार रूपी भय के स्वरूप में प्रकट होता है और शंका से डायन, संकल्प से भूत, बनाकर दुखों के पर्वत के समान हमें डराने के लिए खड़ा कर देता है।

यह समझना भूल होगी कि नीचे की योनियां भोग योनि हैं और उनमें भोग रूपी कष्ट ही कष्ट है। हर जीवन अपने आप में पूर्ण हैं। हर योनि कर्म योनि है और भोगयोनि भी है। केवल मनुष्य ही स्वतंत्र कर्मकर्ता है और अन्य जीव पराधीन हैं यह मानना उचित नहीं। हर जीव अपनी सीढ़ी की मर्यादा में अपनी शिक्षा प्राप्त करता है, अपना कर्म करता है और साथ साथ फल भी भोगता चलता है। मनुष्य जीवन में प्राप्त होने वाली अधिक सुविधाओं और पशु जीवन की अल्प सुविधाओं को देख कर हम ऐसी धारणा बनाते हैं कि पशु तो अल्प ज्ञान वाले हैं इसलिए यह तो नीच या भोग योनि वाले हैं। संभव है एक घोड़ा अपने से नीची योनि वाले मेंढक को देखकर उसे भोग योनि मानता हो और स्वयं कर्म योनि समझता हो। इसी प्रकार यह भी संभव है कि देव योनि वाले जीवन मुक्त महापुरुष हम माया बंधित भव-सागरी मनुष्यों को भोग योनि मानते हों और स्वयं अपने को कर्म योनि ख्याल करते हों। यह खयाली बातें हैं। यथार्थ में सभी जीवों का जीवन अपनी कक्षा के अनुसार पूर्ण सुविधाजनक और आनन्द-दायक है। हमें अनार अमरूद खाते हुए जैसी प्रसन्नता होती है वैसी ही गाय को हरी हरी दूब चरते हुए प्राप्त होती है। योनियों में क्रमशः ज्ञान की वृद्धि होती चलती है इसी दृष्टि से नीच ऊंच का भेद किया जा सकता है अन्यथा कोई जीव स्वयं अपने आत्म स्वरूप ने किसी का भी दुखमय नहीं है। सभी योनियों को ईश्वर ने समान आनन्द दिया है वह

समदर्शी दयालु पित किसी के भी साथ में न तो पक्षपात करता है और न किसी को सुख सौभाग्य से वंचित रखता है। हर जीव का एक धर्म है वह अपने धर्म से जब पतित होता है और पाप कर्म करता है तो मनुष्यों की तरह ही दंड भोगता है।

निस्संदेह हर एक योनि के जीवधारी का एक धर्म है। आप पूछ सकते हैं कि पशु पक्षियों को धर्म शिक्षा किस प्रकार मिलती होती ? वे धर्म अधर्म का निर्णय कैसे करते होंगे ? इसका उत्तर यह है कि 'वेद भगवान' उन्हें धर्मोपदेश देते हैं। वेद का अर्थ ईश्वरीय ज्ञान है। आप पुरुष और जीवन मुक्त महानुभाव समय २ पर मनुष्य जाति के उपकारार्थ उस ज्ञान के देश काल पात्र को दृष्टि में तखते हुए पुस्तकाकार भी बना दिया करते हैं। समस्त धर्मों और धर्म ग्रन्थों का अन्त स्रोत वेद ही है।

जैसे सृष्टि के साथ ही सृष्टि का नियम भी बनता है। उसी प्रकार चैतन्य जीव के साथ जीव का नियम भी बनता है। सृष्टि का नियम है कि पृथ्वी ऊपर से गिरने वाली वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है वह कभी भी अपना नियम भंग करके ऐसा नहीं करती कि गिरने वाली चीजों को ऊपर आकाश को ओर उछालो। यदि गिरने वाली वस्तुओं में या पृथ्वी में कोई कृत्रिमता मिलाई जाय जैसे रबर की गेंद बना कर उसमें भीतर हवा भरदी जाय तो वह गिरने के बाद पृथ्वी से चोट खाकर ऊपर उछल सकती है। उसी प्रकार पृथ्वी में कोई विकार मिला दिया जाय कोई रसायनिक या विद्युत प्रवाह ऐसा फैला दिया जाय तो अपनी शक्ति से गिरने वाले पदार्थों को ऊपर फेंके तो इन दो दशाओं में पृथ्वी का प्राकृतिक धर्म अमुक मर्यादा में टूट सकता है और उस सीमा में अकर्म (अस्वाभाविक कार्य) हो सकता है। इसी प्रकार चैतन्य जीव का एक धर्म

है। जीव धारी भी एक नियम के अनुसार ही कार्य करते हैं जब उस स्वाभाविक धर्म में गड़बड़ी होती है तो वह अधर्म कहा जाता है। इस धर्म का धर्मी के साथ-नियम का पदार्थ के साथ-इतना प्रबल संबंध है कि उसे किसी भी प्रकार प्रथक नहीं किया जा सकता। यह नियम या धर्म एक तत्व है जो प्रत्येक जड़ चेतन पदार्थ के अन्तर्गत पूरी तरह से घुला हुआ है। वही वेद हैं। वेद अनादि है, अपौरुषेय हैं और ईश्वर कृत हैं। सृष्टि का हर एक चैतन्य प्राणी वेद को मानने के लिए बाध्य है क्यों कि संपूर्ण सत् ज्ञान वेद से ही प्राप्त होता है अथवा यों कहिए कि सत् ज्ञान ही वेद है। इसी निखिल विश्व व्यापी वेद में से विभिन्न महात्माओं, महर्षियों तथा अवतारों के समय की आवश्यकतानुसार कुछ अंजलियां भर कर धर्म ग्रन्थ लिखे हैं और फिर समय समय पर उसी वेद के आधार पर उनमें संशोधन किये हैं।

सृष्टि के आदि में जब कोई लिखी हुई धर्म पुस्तक न थी तब भी प्राणियों के अन्तःकरण में सत् की, औचित्य की, कर्तव्य की, धर्म की पुकार मौजूद थी। वेद का संदेश साथ था बिना पढ़े लोग जिन्हें किन्हीं पुस्तकों के पढ़ने या सुनने का अवसर नहीं मिला वे भी कर्तव्य धर्म को जानते हैं। उनका अन्तरात्मा भी यह बता देता है कि क्या करना चाहिए क्या न करना चाहिए। जिस प्रकार वायु, जल, भोजन आदि की सम्पूर्ण प्राणियों के लिए व्यवस्था हुई है उसी प्रकार वेद रूपी ज्ञान भी सम्पूर्ण प्राणियों को दिया गया है। जीव के अन्तराल में से एक हूक उठती है जो कर्तव्य और धर्म का निरन्तर पाठ पढ़ाया करती है। निरंतर धर्म मार्ग पर सुदृढ़ रहने के लिए सावधान किया करती है। प्राणी के प्राणों में धर्म पिरोया हुआ है उसके बिना उसका जीवित रहना कठिन है।

हर जीव क्रमशः अधिक ऊँचा चढ़ता आता है और अधिक उदार, परोपकारी, सत्यनिष्ठ एवं स्वार्थत्यागी होता जाता है। सर्पिणी अपने अंडे बच्चों को खा जाती है किन्तु गाय अपने बच्चे की रक्षा के लिए जान पर खेल कर शेर से आ लड़ने को तैयार हो जाती है। विद्यार्थी एक एक पाठ याद करता जाता है वैसे ही योनियां आगे के पाठ याद करती जाती हैं। तब उनका धर्म भी वही बनता जाता है। स्वांस-प्रश्वांस-क्रिया और सकुड़ने-फैलने की हरकत हर एक प्राणी करता है। यह उसका धर्म है किन्तु शरीर वृद्धि के साथ फेफड़े भी बढ़ते हैं और जितनी हवा छोटा प्राणी खींचता था बड़ा प्राणी उससे अधिक मात्रा में खींचता है। चींटी की मास पेशियां बाल बराबर सकुड़ती फैलती हैं पर बिल्ली की पेशियां आध इञ्च तक सकुड़ती फैलती हैं। शरीरों के परिवर्तन से धर्म के स्थूल रूप में, क्रिया की बाह्य व्यवस्था, अन्तर हुआ पर मूल धर्म नहीं बदला। स्वांस-प्रश्वांस और आकुंचन प्रसारण सब में समान है उस बीज रूप मूल तत्व में अन्तर नहीं आया तो भी समयानुसार बाह्य क्रियाऐं बदल गईं। जीव का धर्म असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर चलना है। यह यात्रा उसकी जिस मंजिल पर पहुँच जाती है उसी के अनुसार बाह्य परिस्थियां बदलती जाती हैं।

प्रथम कक्षा का विद्यार्थी गणित के प्रश्नों का हल नहीं जानता इसलिए अध्यापक इसके लिए उसे दोषी नहीं ठहराता किन्तु तीसरी कक्षा का छात्र यदि बताये हुए गणित को ठीक रीति से हल न करे तो उसकी पीठ पर मास्टर का बेंत पड़ता है। हर व्यक्ति का अन्तःकरण कक्षाओं के अनुसार विकसित होता हुआ चला आता है उसमें सात्विक गुण क्रमशः बढ़ते जाते हैं, तदनुसार अन्तःकरण की महानता एवं सतोगुणी

वृत्तियों की वृद्धि होती जाती है। पाप पुण्य की परिभाषा करते हुए आपको जानना चाहिए कि अन्तःकरण के उन्नत दृष्टि कोण के अनुसार काम करना पुण्य एवं पीछे छोड़े हुए दृष्टि कोण के अनुसार कार्य करना पाप है। मन में सदैव देवासुर संग्राम हुआ करता है। पिछली योनियों में जो स्वभाव, धर्म थे किन्तु अब वर्तमान दशा के अनुसार वे बचपन के छोटे कपड़ों की तरह बेकार होगये हैं वे विचार अब असुर एवं अधर्म होगये हैं। आत्मिक विकाश के साथ साथ जिन अधिक सतोगुणी कार्यों के करने की भीतर से हूक उठती है वह देव एवं धर्म है। धर्म अधर्म का, देव असुरों का, राम रावण का, पाण्डव कौरवों का यह धर्म युद्ध निरंतर मन में हुआ करता है। प्राणी का कर्तव्य है कि वह ऊँची कक्षा चढ़ने पर पिछली पुस्तकें रटना छोड़ कर आगे का पाठ याद करे। धर्म युद्ध में असुरों का विरोध और देवताओं का समर्थन करे। शान्त चित्त से किसी कार्य को करते समय देखे कि स्वार्थ क्या कहता है और परमार्थ क्या कहता है। इस निरीक्षण के पश्चात् स्वार्थ रूप असुर को तिरस्कृत करके परमार्थ रूप देव पक्ष का समर्थन करे। यही धर्म कर्तव्य है। स्वभावतः अधिकांश जीव इसी मंजिल पर चढ़ते चले जाते हैं और अपनी मंजिल तय करके जीवन लक्ष-परम पद, को प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी दुराग्रही हठधर्मी करने वाले होते हैं जिन्हें आगे बढ़ने में काल का सा डर लगता है। भीतर प्रेरणा उठती है कि चलो अमुक शुभ कर्म करें, अमुक परमार्थ कार्य को अपनावें किन्तु वह अन्तःकरण की पुकारको न सुनकर उसे कुचलता रहता है और पिछले संस्कारों को नहीं छोड़ना चाहता। अध्यापक गणित सिखाता है पर जिद्दी छात्र वर्णमाला को ही दुहराता है ऐसे हठी विद्यार्थी के गालों पर चपत और पीठ पर बेंत पड़ना आवश्यक है।

आत्मा की धर्म मार्ग पप चलने की अन्तःप्रेरणा को वेद-संदेश कहते हैं यही धर्म है यही ईश्वरीय आज्ञा है। आत्मा की धर्म प्रेरणा को कुचलना ही आत्म हत्या है इसे ब्रह्महत्या भी कहते हैं। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में 'असुर्य्याः नाम ते लोके०' मन्त्र में स्पष्ट कह दिया कि ऐसे आत्म हत्यारे घोर अन्धकार पूर्ण नरक में पड़ते हैं। यांद रखिए दुनियां में एक ही पाप है 'आत्म हत्या' आत्म हत्या जिस परिमाण में की उसी के अनुसार आधि-दैविक, आधि दैविक और आधि दैहिक दंड मिलते हैं। आत्म हत्या जैसे कर्मों का परिपाक ही दुख है। अन्यथा इस जीवन में स्वतंत्र रूप से दुख का एक कण भी मौजूद नहीं है। कोई व्यक्ति रमणीक वाटिका में बैठ कर मद्य पान करे और उसके नशे में बेहोश हो जाय तो वह बेहोशी वाटिका का गुण न कही जायगी। नशा कराने वाली वाटिका नहीं है उसे इसके लिए दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता। किसी व्यक्ति को पुस्तक पढ़ते पढ़ते वमन हो जाय तो उसका दोष पुस्तक को नहीं दिया जायगा, डाक्टर यह नहीं देखेगा कि किस पृष्ठ को पढ़ते हुए वमन हुई वरन वह पेट की टटोल करेगा क्यों कि सर्व विदित है कि वमन पुस्तक पढ़ने से नहीं वरन् उदर विकार से होती है। जीवन स्वयं आनंद रूप है। इसका प्रत्येक क्षण हमें आनंद देने के लिए आता है। जीव धारी अपने पाप कर्मों के फल स्वरूप दुख पाते हैं फिर भी उन दुखों का कारण जीवन नहीं है। आनंदी आत्मा आनंदित जीवन जी रहा है। फिर भी हाय! कितने ही अभागे व्यक्ति, जीवन के मर्म को नहीं समझते और अपने को दुख दारिद्र के बंधनों में बांध कर जीवन जैसी प्रसन्नता मय वस्तु को नष्ट भ्रष्ट कर देते हैं यह कितना शोचनीय अज्ञान है।

जीवन विकाश ।

सृष्टि के समस्त पदार्थों के जीवन क्रम पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि हर एक पदार्थ आरम्भ में छोटा होता है। पीछे वह बढ़ता और विकसित होता हुआ आगे बढ़ता है। अंकुर-अंकुर से नन्हा सा पौदा, नन्हे से पौदे से बड़ा पौदा, अन्त में वृक्ष। रज-वीर्य के अत्यन्त छोटे कण-गोली के बराबर मांस पिण्ड-गर्भ बालक-किशोर-अन्त में तरुण पुरुष। परमाणु-अणु-टुकड़ा-अन्त में बड़ा पदार्थ। वर्णमाला सीखने वाला विद्यार्थी-ऊंची कक्षाओं का छात्र-अन्त में विद्वान। जिधर भी दृष्टि दौड़ाइए हर पदार्थ छोटे से बड़ा बनता हुआ दिखाई पड़ेगा। इससे प्रतीत होता है कि जीवन का विकाश क्रम 'लघु से महान बनने की आधार शिला पर स्थिर है।

पूर्वीय विज्ञान और पाश्चात्य विज्ञान दोनों ही इस प्रश्न पर एक मत हैं। भारतीय आचार्यों का मत है कि "चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के पश्चात् जीव मनुष्य शरीर को प्राप्त करता है।" योनियों में स्वेदज, उद्भिज, अंडज, जरायुज, क्रमशः एक के बाद दूसरी कक्षा की योग्यता और शक्ति बढ़ती जाती है। स्वेदज जीवों में जितना ज्ञान और विचार है उसकी अपेक्षा उद्भिजों की योग्यता बढ़ी हुई होती हैं। इसी प्रकार यह योग्यता बढ़ते बढ़ते शरीरों की बनावटों में अन्तर होने लगता है और अन्त में मानव शरीर प्राप्त हो जाता है। मनुष्य, सृष्टि का सर्व श्रेष्ठ प्राणी है, वह मञ्जिल की सबसे आखिरी सीढी पर खड़ा हुआ है। जहां जीव को पहुंचना है वह स्थान मनुष्य शरीर के बिलकुल निकट है।' पाश्चात्य विकाशवादी पंडित डार्विन भी अपना मत इसी प्रकार प्रकट करते हैं उनका कहना है कि अल्प चेतन एकेन्द्रिय प्राणियों की चेतना बढ़कर मछली

मैंढक, गिरगिट, गिलहरी, न्योला, बिल्ली, कुत्ता आदि में विकसित होता हुआ बन्दर से मनुष्य बना है। भारतीय अवतारों के क्रम पर विवेचना करते हुए कुछ विद्वानों ने उससे भी विकाश वाद की पुष्टि की है। हिन्दुओं के दस अवतार प्रसिद्ध हैं। इनमें से आरम्भ के यह हैं (१) मत्स्य (२) कूर्म (३) वाराह (४) नृसिंह (५) वामन। अनुमान लगाया जाता है कि आरम्भ में मछली जैसे जीव, फिर कछुए जैसे, इसके बाद उन्नति करते करते सुअर की आकृति के तदुपरान्त अधकचरे मनुष्य आधे आदमी जैसे नरसिंह हुए होंगे। पीछे बौने-अल्प योग्यता वाले-मनुष्य हुए होंगे। हो सकता है कि शारीरिक दृष्टि से वे वर्तमान मनुष्यों की अपेक्षा कुछ सबल रहे हों पर बौद्धिक दृष्टि से बौने, बामन, छोटे, अवश्य रहे होंगे। ऐसे ही अन्य आधार भी जीवन विकाश के सम्बन्ध में प्राप्त हो सकते हैं। पाश्चात्य अनुसन्धानों से तो सोलह आना इसी मत का समर्थन होता है कि जीवन नीचे से ऊपर की ओर, तुच्छता से महानताकी ओर, बढ़ रहा है। आध्यात्मवादी भी मानते हैं कि आत्मा बढ़ते बढ़ते परमात्मा होजाता है।

यहां एक सन्देह उठ खड़ा होता है कि योनियों की असमानता के कारण कोई प्राणी तो बहुत आनन्द में रहते होंगे और कुछ उनके लिए तरसते होंगे जैसे कबूतर हवा में उड़ने का आनन्द ले सकता है पर कछुए के लिए वह कहां रखा है? बन्दर तो मधुर फलों का स्वाद लेता है पर मैंढक के लिए वह कहां है? मनुष्य षट्रस व्यंजन खाता है पर गधे को घास पात खाकर गुजारा करना पड़ता है। इसी प्रकार जीवों का कार्य क्रम बौद्धिक मर्यादा, आदि में भी विषमता होतीहै। शरीरों का छोटा बड़ा होना इन्द्रियों की न्यूनाधिकता का अन्तर है ही। पाप पुण्य की दृष्टि से भी अन्तर है ही। कोयल अपने बच्चों

को कांओं से पलवाने के लिए धूर्तता करती है, मांसाहारी पशु पक्षी अपने से छोटे जीवों को निर्दयता पूर्वक खा जाते हैं। ऐसी असमानता और विभिन्नताको देखकर बुद्धि सहजही बड़ी भ्रमित हो जाती है और प्रश्न उपस्थित होता है कि ईश्वर की पुण्य रचना में ऐसी असमानता क्यों है ? यदि सभी प्राणी समान योग्यता के होते, कोई जीवजन्तु मांसाहारी न होता तो विश्व की व्यवस्था कितनी सुन्दर होती।

हमें जानना चाहिए यह असमानता न तो भयंकर है न बुरी और न असह्य। हमारी स्थूल दृष्टि से यह अन्तर जैसा असाधारण दिखाई देता है तात्विक दृष्टिसे देखने पर वह यथार्थ में वैसा नहीं है। यदि कोई अशिक्षित आदमी एक स्कूल में पहुंच जाय और एक ही समान बालकों में से किसी को गणित, किसी को भूगोल, किसी को भाषा, किसी को दस्तकारी, पढ़ता देख कर नाराज हो और कहे कि यह कैसा अविवेकी मास्टर है जो किसी से कुछ काम कराता है किसी को कुछ शिक्षा दे रहा है किसी को कुछ। अज्ञानी की दृष्टि से स्कूल की यह असमानता मास्टर को अविवेकी ठहराती है, लेकिन एक सुविज्ञ व्यक्ति जानता है कि यह बालक जब अफसरी के योग्य होंगे तब इन्हें दस्तकारी, हिसाब, भूगोल, सुलेख आदि सभी की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिए विभिन्न विषयों को धीरे धीरे, पचता पचता, पढ़ने के लिए अलग पुस्तकें, अलग अलग कक्षायें, नियत करनी पड़ती हैं। योनियां स्वतन्त्र कक्षाएं हैं जिनमें अलग अलग विषयों की शिक्षा मिलती है और क्रमशः ऊँची कक्षा में चढ़ते आते हैं। एक योनि के जीवधारी के काम, दूसरों के कामों से असंबद्ध मालूम पढ़ते हैं तो भी उनमें आपसी तारतम्य रहता है। पहाड़े याद करने वाले बालक और ज्योमेट्री के प्रश्न करने वाले के काम में भले ही भिन्नता और कभी कभी विपरीतता

मालूम पड़े पर यथार्थ में एक का दूसरे से सम्बन्ध है। ज्योमेट्री के छात्रने यदि एक दिन पहाड़े याद न किये होते तो आज जिसे कार्य को वह कर रहा न कर सकता।

चींटी और हाथी की तुलना शरीर की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार करते हुए तुच्छता महानता का निर्णय करना उचित न होगी। चींटी अपने शरीर की पुस्तक द्वारा भार वाहन, वस्तु छेदन, संचय वृत्ति, संघ बद्धता सहयोग, आदि की शिक्षा प्राप्त कर रही है। जो आगे चलकर अफसरी के वक्त, मानव जीवन में काम देगा। हाथी अपने शरीर की कक्षा में सहन-शीलता, स्वामिभक्ति, गंभीरता, इन्द्रिय संयम, सबलता आदि पढ़ रहा है, बिना इसके भी तो अफसरी में काम न चलता। सिंह फाड़ खाना सीखता है ताकि मानव जीवन में अन्यायों को नोंच डालने की क्षमता प्राप्त हो जावे, लोमड़ी चालाकी पढ़ती है ताकि अफसरी के वक्त, मानव शरीर प्राप्त करने के समय-चतुरता पूर्वक जीवन समस्याओं को हल कर लिया करें। हिरन अपनी कक्षा में दौड़ने की और खरगोश आत्म रक्षा की योग्यता संग्रह करता है। इस प्रकार विभिन्न योनियों में अलग अलग प्रकार की शिक्षाएं प्राप्त करता हुआ क्रमशः विकसित होकर जीव मनुष्य शरीर में आता है और इन सब कक्षाओं की शिक्षा में इतना ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि हजारों लाखों जीव जन्तुओं से एक मनुष्य का पलड़ा भारी बैठता है। हजारों विद्यार्थियों की तुलना में एक प्रोफेसर अधिक बुद्धिमान ठहरता है।

इन्द्रिय सुख की दृष्टि से कोई जीव आगे पीछे नहीं है। बन्दर को फल जितने सुस्वादु लगते हैं, उतने ही मधुर ऊँट को नीम के पत्ते लगते हैं। राजा अपनी रानी से जितना प्रसन्न है, महतर अपनी महतरानी से भी उतना ही प्रसन्न है। इस प्रकार

पशु पक्षी भी वैसा ही आनन्द अनुभव करते हैं शब्द, रूप रस

गन्ध, स्पर्श का सुख सबको मिलता है। जो जीव जिस योनि में हैं, जैसे साधन प्राप्त करता है उसी के अनुसार उनकी इन्द्रियां होती हैं ताकी वही परिस्थिति उसके लिये आनन्द दायक बन जाय बेशक अन्य योनियां विवेक दृष्टि से मनुष्य से नीची हैं पर इसका अर्थ कदापि नहीं है कि वे दुखी हैं, अभावग्रस्त हैं या, निष्प्रयोजन जीवन व्यती कर रही हैं। मनुष्येतर प्राणियों का भोग योनि मानना भ्रम है। जीवनमुक्त और देवता लोग भव-बाधित मनुष्यों को नीची कोटि का समझें यह तो ठीक है पर यदि वे हमें भोग योनि मानें तो यह अन्याय होगा। सभी जीव अपनी अपनी दशा में सुखपूर्वक हैं यही कारण है कि सबको मृत्यु बुरी लगती है। सभी अपनी अपनी कक्षा के अनुसार ज्ञान की योग्यताओं की शिक्षा प्राप्त करते हुए लघुता से महानता की ओर, अपूर्णता से पूर्णता की ओर, बन्धन से मुक्ति की ओर, बढ़ते चले आ रहे हैं। निस्सन्देह जीवन का लक्ष 'विकाश' है। ईश्वरीय प्रेरणा से बलात् प्रेरित हुए जीव इसी महान यात्रा के पथ पर दौड़ते हुए चले जा रहे हैं।

मनुष्य जीवन स्वयमेव ज्ञान का भण्डार है। मूर्ख से मूर्ख मनुष्य केज्ञान, कार्य, चतुरता, योग्यता आदि के सम्बन्ध में विचार करें तो वह मानसिक दृष्टि से बुद्धिमान से बुद्धिमान पशु पक्षी से बढ़ा हुआ होगा। कारण यही है कि असंख्य योनियों के अनुभव उसकी सुप्त चेतना में भरे हुए हैं। वे अनुभव समयानुसार जागृत और प्रस्फुटित होते रहते हैं। घर में गढ़े हुए खजाने को ढूँढ कर बुद्धिमान मनष्य निकाल लेता है। मूर्ख की बुद्धि यह काम नहीं करती कि पिता ने जो धन जमीन में गढ़ा था उसे किस स्थान पर ढूँढूँ, कैसे खोदूं, क्या करूं क्या न करूं? चतुर व्यक्ति अनेकोनेक असाधारण कार्य कर डालते हैं। उनकी योग्यताऐं असाधारण होती है इसका

कारण यही है कि उन्होंने अपने जन्म जन्मान्तरों के अनुभव रूपी गड़े हुए खजाने को उखाड़ लिया है। वैज्ञानिक लोगों ने अनेक आविष्कार किये हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से इसका कारण यह है कि उनकी शोध में प्रधान सहायता उनके पूर्ण संस्सकारों से मिली। वैज्ञानिक कहते हैं कि शोध करते समय अक्सर अनेक नई बातें अचानक सूझ पड़ती हैं। यह अचानक और कुछ नहीं बुद्धि की रगड़ से प्राचीन अनुभवों के तारों का झंकृत होना है। हवाई जहाज के आविष्कारकों को प्रधान सहायता उस अनुभव से मिली जो उन्होंने चिड़िया रहने के समय वायु के सम्बन्ध में प्राप्त किये थे। पनडुब्बी बनाने वाले का वह ज्ञान बहुत अधिक काम में आया जो उसे मछली होने के समय पानी के सम्बन्ध में प्राप्त हुआ था। मनुष्य ज्ञान का भण्डार है। यह भण्डार उसने लाखों योनियों में भ्रमण करते हुए अपरमित समय में प्राप्त किया है।

आत्मा ज्ञान स्वरूप है। परन्तु धुआं रूपी जीव तो आत्मा के ज्ञान से गतिवान होता है और सांसारिक अनुभवों को योनियों की पाठशाला में पढ़ता है। ऊँचे मकान पर लकड़ी की सीढ़ी खड़ी करके चढ़ते हैं। मन के लिए छत तक पहुँचने में कोई बाधा नहीं, पलक मारते ही मन छत के ऊपर उड़ सकता है परन्तु शरीर में वैसी योग्यता नहीं है। शरीर एक एक डंडे पर रखता हुआ धीरे धीरे छत तक पहुँच जाता है। आत्मा स्वयं ज्ञान रूप है। जीव अपने जीवन सम्बन्धी अनुभवों को धीरे धीरे संचय करता है, आत्मा साक्षी रूप और निर्विकार है। वह जीव के सुख दुख में भाग नहीं लेता। केवल उसे प्रेरणा देता रहता है। इसलिए यह आक्षेप उचित नहीं कि जब आत्मा ज्ञान स्वरूप है तो उसे अनुभव प्राप्त करने के लिए इतनी योनियों में घूमने की क्या आवश्यकता पड़ी।

जीवन का स्वरूप यह है कि कूटस्थ आत्मा की प्रेरणा से प्रकृति के तत्वों का एक अदृश्य पुतला बनता है। जो तत्वों के आघातों को अनुभव करता है। सर्दी में वह कांपता है, गर्मी में घबराता है, वर्षा में प्रसन्न होता है। धन प्राप्त होने पर हंसता है और पुत्र की मृत्यु पर सिर धुनता है। सांसारिक संवेदनाओं को अनुभव करने वाला जीव है। यह जीव एक मंजिल प्राप्त करता है उसपर चलता है और बढ़ते बढ़ते अन्त में स्वयं भी आत्मा में ही मिल जाता है। द्वैत भाव दूर होकर एक ही वस्तु रह जाती है। बन्दूक की नली में शीशा की गोली पड़ती है और बारूद। घोड़ा दाब देने पर बारूद उड़ती है और गोली को साथ लेजाती है। निशाने पर पहुंच कर गोली तो घुस जाती है और बारूद जलकर भस्म होजाती है। जीव बारूद है वह आत्मा की यात्रा का उद्देश्य पूरा करने के लिए गोली को निशाने तक पहुंचाने के लिए प्रकट होता है। जीवन धारण करते ही वह बारूद की तरह उड़ता है और फासले को चीरता हुआ ध्येय तक पहुंच कर आत्मा को परमात्मा में मिलाकर स्वयं समाप्त हो जाता है। गोली जब बन्दूक में पड़ी थी तब भी शीशे की थी जब निशाने में घुस गई तब भी उसी धातु की रही। किन्तु बारूद के कई रूप बदले, नाल में वह काले चूर्ण की तरह थी, चिनगारी पड़ते ही वह अग्नि के समान होगई और निशाने तक पहुंचते पहुंचते अदृश्य होकर विलीन होगई। जीव की योग्यता, शक्ति, विद्या, बुद्धि, घटती बढ़ती और उलटती पुलटती रहती है पर आत्मा अपरिवर्तन शील है। जीव रूपी कहार के कंधों पर पालकी में वह बैठा है तो भी गोली बारूद की तरह यह दो वस्तुऐं हैं और प्रतिबिम्ब होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं।

जीव का निरन्तर विकास हो रहा है उसका अज्ञान हर

घड़ी घट रहा है और ज्ञान की किरणें निरन्तर अधिक उज्वल होती जा रही है। यहां आप एक कल्पना कीजिए। मान लीजिये कि एक जलता हुआ बिजली का बल्ब है। उसके ऊपर कपड़े के सैंकड़ों पर्त चढ़े हुये हैं, सबसे ऊपर वाले पर्त को देखने पर भीतरी बल्ब का प्रकाश नहीं के बराबर दृष्टिगोचर होगा, किन्तु यह पर्त जैसे जैसे खुलते जाते हैं वैसे ही वैसे प्रकाश अधिक स्पष्ट होता जाता है। दो चार पर्तों का कपड़ा हटा देने पर भीतर की रोशनी हलकी हलकी किरणों से बाहर आने लगती है। जब सारे पर्त हट जाते हैं तो बल्ब अपने उज्वल स्वरूप में निकल आता है। जीव का आरम्भिक जीवन अनेक पर्तों से लिपटी हुई प्रारम्भिक दशा में होता है। अन्त में अपने पर्तों को खोलता खोलता ज्योति स्वरूप हो जाता है। प्याज अनेक पर्तों से लिपटी होती है। एक के बाद एक पर्त उतारते जाइये तो प्याज की भीतरी मिंगी निकल आती है। यही जीवन क्रम है। योनियों की सीढ़ियों पर अज्ञान का एक एक पर्त उतरता जाता है और ज्ञान का प्रकाश बढ़ता आता है। आप यों समझिये कि जीवन एक पतंग की डोरी है। जीव रूपी पतङ्ग आकाश में ऊँची चढ़ती जा रही है। और लिपटी हुई जीवन की सुषुप्त डोरी खुल कर आकाश में चढ़ती जा रही इसका एक सिरा परमात्मा रूपी बालक के हाथ में है वह चर्खी से लिपटी हुई डोरी को निरन्तर खोलता जा रहा है और एक दिन सारी डोरी को खोल कर पतङ्ग को मुक्ति प्रदान कर देगा।

एक बात और ध्यान रखनी चाहिए कि विकास क्रम में शारीरिक बल की अपेक्षा मानसिक चेतना प्रधान है। भैंसे की अपेक्षा बन्दर को ऊँचे दर्जे का विद्यार्थी समझा जायगा भले ही शारीरिक बल में भैंसा अधिक हो पर बुद्धि में बन्दर ही प्रधान है। मनुष्य भी अन्य जीवों की अपेक्षा बल और विशालता में

न्यूम है पर बुद्धि का प्रकाश इसको सृष्टि का सर्व शिरोमणि प्राणी बनाये हुए है।

यह बात निश्चित है कि एक जन्म से दूसरा जन्म अधिक उज्वल होगा। कोई भी प्राणी उलटी योनि के लिये नहीं चलता, हां, मनुष्य योनि में ऐसे अपवाद हो सकते हैं। पर वे अपवाद कभी कभी और कदाचित ही होते हैं। बी० ए० का विद्यार्थी प्रायः छटवें सातवें दर्जे में नहीं उतारा जाता। यह हो सकता है कि कोई आलसी, प्रमादी या उद्दण्ड लड़का कई वर्ष एक ही कक्षा में पड़ा रहे और अपनी शैतानियों के लिए पिटता रहे। पर जो पुस्तक उसे अनिवार्यतः नित्य पढ़नी पड़ती हैं उसे भूल जाना कठिन है। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है कि कोई व्यक्ति पाप कर्म करता हुआ और पुण्य कर्म करता हुआ दिखाई पड़ता है। इसका क्या कारण है ? इसका कारण यह है कि एक मनुष्य अभी अभी ही नीच योनियों में से निकल कर ऊपर आया है। दूसरा मनुष्य कई जन्मों से मनुष्य योनि में विचरण कर रहा है। जो व्यक्ति भेड़िया, व्याघ्र, सर्प, सियार, बिच्छू आदि की कक्षाओं में से अभी अभी निकला है, वह मनुष्य योनि में प्रवेश पाकर भी अपने उन पुराने ,संस्कारों में जागता देखा जाता है। स्वार्थी, चोर, दुष्ट, डाकू, हिंसक ऐसे ही व्यक्ति हैं। वे अपने पुराने संस्कारों को क्रमशः छोड़ते हुए आगे चलेंगे। भारतीय धर्म शास्त्र इसी लिए किसी से भी घृणा करने की आज्ञा नहीं देता। दसवीं कक्षा के छात्र को यह उचित नहीं कि वह तीसरे दर्जे के विद्यार्थी के अल्पज्ञान के लिए घृणा करे। एक दिन वह स्वयं भी तीसरे दर्जे में रहा होगा। आज वह दसवें दर्जे में है, तो भी एम० ए० के छात्र की दृष्टि में उतना ही छोटा होगा जैसा कि वह स्वयं आज तीसरे दर्जे वाले को छोटा समझ रहा है।

घृणा न करने का अर्थ यह नहीं है कि सेवा और सुधार से भी मुख मोड़ लिया जाय। बालक उत्पन्न होता है उसमें व्यवहारिक ज्ञान की कमी होती है कपड़े में टट्टी, पेशाब कर देने जैसे अप्रिय कार्य वह करता है, तो भी माता पिता उससे घृणा नहीं करते, वरन् उसको शुद्ध करने और ज्ञान बढ़ाने की सेवा सहायता करते हैं। अज्ञानियों, मूर्खों और पापियों को कुमार्ग से हटाकर सुमार्ग पर लाने का सतत प्रयत्न करना आवश्यक है। उद्दंड बच्चे को कभी कभी चपत लगाने की जरूरत होती है इस दृष्टि से दुष्टों को दण्ड भी दिया जा सकता है सेवा और सुधार के लिए साम, दाम, दंड, भेद चारों से ही काम लिया जा सकता है। सुधार के लिए हिंसा की भी छूट है। अर्जुन को ऐसा ही अप्रिय सुधार करना पड़ा था। घृणा मूर्खता है और सेवा कर्तव्य है। इस लिए दुष्टों से घृणा का नहीं वरन् उनकी उन्नति के लिए सेवा का व्यवहार उसी प्रकार करना चाहिए जैसी समय की आवश्यकता हो।

यह बात यहां अच्छी तरह ध्यान रखने की है कि कोई जीव प्रायः नीचे की योनियों में नहीं लौटता, क्यों कि जितना ज्ञान उसने इकट्ठा कर लिया है उसे भूल नहीं सकता और भूले बिना छोटी योग्यता के शरीरों में उस प्राणी का निवास नहीं हो सकता। दस सेर पानी पांच सेर के बर्तन में नहीं भरा जा सकता, बी० ए० का विद्यार्थी तीसरे दर्जे में नहीं उतारा जा सकता। मनुष्य को प्रायः कुकर्मी के दंड में नीच योनियां नहीं मिलती। अगला जन्म मनुष्य का ही होता है और विकाशक्रम के अनुसार परिवार एवं वातावरण भी ऊँचा ही मिलता है, जिससे विकाश क्रम न रुके। परन्तु पापों के दंड स्वरूप शारीरिक कष्ट मिलते हैं। अपवाद कभी कभी तब उपस्थित होते हैं, जब कोई जीव बहुत ऊँचा चढ़कर अचानक बहुत नीचे की ओर

खिसक पड़ता है। ऐसे प्राणियों के हथियार कुछ समय के लिए जब्त कर लिए जाते हैं और जड़ योनियों में कैद कर दिया जाता है। यह कैद इस लिए होती है कि वह उन मानव जीवन की अनुपयोगी आदतों को भूल जाय। यह दंड एक प्रकार का लम्बा बचपन है। जिसमें पढ़ने की अपेक्षा भूलने की शिक्षा दी जाती है। अहिल्या के शिला हो जाने और पर्यंक यक्ष के वृक्ष होजाने की कथा इसी सत्य पर प्रकाश डालती है। लेकिन ऐसा बहुत ही कम होता है। जेलखाने में कैदी पहुँचते तो हैं पर साधारण जनता की अपेक्षा उनकी संख्या बहुत ही कम होती है। इसी प्रकार मानव विकाश का साधारण क्रम ऊपर को उठता हुआ ही जा रहा है। कैद से छूटने के बाद मनुष्य फिर अपने पुराने अधिकारों को प्राप्त कर लेता है, अपनी पिछली कमाई हुई सम्पत्ति का अधिकारी हो जाता है। अहिल्या का शिला जीवन समाप्त होते वह ऋषि पत्नी बन गई। इसी प्रकार यदि मनुष्य को कोई दण्ड योनि मिलती है, तो उससे छूटने के बाद वह फिर से अन्य योनियों में नहीं घूमता, वरन् सीधे अपने पिछले ज्ञान में जागृत होता है और जहां से मंजिल रुकी थी, वहीं से आगे के लिए आरम्भ हो जाती है। पिछला ज्ञान उसका ज्यों का त्यों मिल जाता है।

एक बात फिर शायद संदेहास्पद रह जाय वह यह कि मनुष्येतर योनियों में हिंसा, स्वार्थ, संघर्ष जैसी वृत्तियों की अधिकता क्यों रहती है? ईश्वर ऐसे पापों में प्रवृत्त होने का स्वभाव पशु पक्षियों को क्यों देता है? इन प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने से पूर्व हमें पाप पुण्य की दार्शनिक मीमांसा करनी होगी। आपको जानना चाहिए इस सृष्टि में एक भी काम स्वतः पाप रूप नहीं है। यदि व्यभिचार पाप है तो अपनी स्त्री के साथ सहवास करना पाप क्यों नहीं? यदि हिन्सा करना पाप है तो

जज को हत्या क्यों नहीं लगती ? यदि दूसरे का धन लेना चोरी है तो पिता का धन लेना चोरी क्यों नहीं ? यदि स्वार्थ पाप है तो भोजन वस्त्र लेना पाप क्यों नहीं ? यदि लड़ाई पाप है तो आक्रमणकारी से बचाव करने का धर्मयुद्ध पाप क्यों नहीं ? आप देखेंगे कि हिन्सा, व्यभिचार, चोरी,स्वार्थ आदि स्वयं पाप नहीं है। वरन आवश्यकता से पीछे को जो वस्तु हो जाती है वह पाप कहलाती है। एक मामूली अशिक्षित, अज्ञानी व्यक्ति के लिए झूठ बोलना उतना पाप नहीं है जितना कि धर्माचार्य के लिए। अजामिल जरा से प्रयत्न से तर गया पर राजा नृग को गौदान के संबंध में जरासी गड़बड़ करने पर नरक मिला। सब प्राणियों का धर्म एक नहीं है न सब मनुष्यों का अधर्म एक है। प्राणी के मानसिक विकास के साथ साथ धर्म की परिभाषा भी विस्तृत होती है। पशु पक्षियों का जीव इतना विकसित नहीं होता और स्वार्थ, हिन्सा आदि आवश्यक बातों की शिक्षा उन्हें प्राप्त नहीं हुई होती इस लिए उस ज्ञान का सम्पादन करने के लिए हिन्सा आदि की उन्हें आवश्यकता है मनुष्य उन बातों को सीख चुका है वह कक्षा पास हो चुकी है अब फिर उसी में लौटे तो उसके लिए यह पाप है। जब आपको भूख लगे तब पेट में भोजन डालना धर्म है किन्तु भरे पेट को और अधिक ठूंसना पाप होगा। जब भूखे थे तब भोजन करना ईश्वर को पसंद पुण्य था किन्तु जब भरे पेटपर खा रहे हैं तो उलटी, दस्त. पेटका दर्द आदि के रूप में पाप का दंड मिलेगा। इन पंक्तियों में यह बताया गया है कि विवेक मयी हिन्सा, धर्म मय स्वार्थ, पुण्य रूप संघर्ष, जीवन की अनिवार्य आवश्यकता हैं इनकी शिक्षा जब प्राणी सिंह, सियार, कुत्ता आदि के शरीर रूपी पुस्तकों में पाता है तब वह पाप नहीं है। क्योंकि उस समय इन पशुओं की अन्तरात्मा इन कर्मों को पाप नहीं मानती और न उनका विरोध

करती है। किन्तु मनुष्य शरीर का विकाश बहुत आगे है अब यदि उन्हीं पुरानी बातों को दुहरावें तो अन्तरात्मा विरोध करेगी और वह बातें समय से पीछे की हो जाने के कारण पाप कहलावेंगी। जब-नवजात बालक कपड़े में टट्टी कर देने में कुछ भी झिझक नहीं करता उस समय माता की गोद में मल मूत्र त्यागना पाप नहीं था। पर जब वह बालक जवान पुरुष बन जाता है तो वैसा नहीं कर सकता उसकी अन्तरात्मा वैसा करने से रोकेगी और यदि अन्तरात्मा के विरुद्ध कार्य करेगा तो सारा समाज उसे धिक्कारेगा। पाठक समझ गये होंगे कि पशु पक्षियों को जिन हिंसा स्वार्थ आदि का पाप नहीं लगता उन्हीं का मनुष्य को क्यों कर लगने लगता हैं। तहसीलदार का चपरासी यदि हुक्म उदूली करे तो उस पर दो रुपया जुर्माना हो जायगा किन्तु फौजी सैनिक अनुशासन भङ्ग करे तो उसे कोर्ट मार्शल करके गोली से उड़ा दिया जायगा। पशु शरीरों में जो काम उपेक्षणीय थे वे मानव शरीर में पाप बन जाते हैं। निर्लज्ज मैथुन और मल त्याग करके अशुद्ध रहना पशु के लिए वर्जित नहीं है परन्तु मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता। उसके लिए ये ही साधारण क्रम विकाश मर्यादा के अनुसार पाप बन गये हैं।

लाखों योनियों में भ्रमण करने पर जो शिक्षा मिलती है ज्ञान और अनुभव संचय होता है वह बीज एवं संस्कार रूप से मनुष्य की सुप्त चेतना में, अन्तर्मन में जमा रहता है। इस ज्ञान को सुव्यवस्थित करके क्रम बद्ध विधि से सदुपयोग करना मानव जीवन का काम है। करीब जीवनोपयोगी सारी शिक्षा अन्य योनियों में पूरी हो जाती है। मनुष्य जीवन के लिए तो एक ही काम बाकी रहता है कि 'भीतर भरे हुए खजाने को तरतीब से सजाकर रखदे। और जो वस्तु जब जितनी मात्रा में खर्च करनी है उसे ठीक विधि से विवेक पूर्वक

उपयोग करे। शिक्षा, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, अध्ययन, आत्म चिन्तन, इन सबका तात्पर्य एक ही है कि अपने अन्दर जो अनेक समयों की अनेक वस्तुऐं भरी हुई हैं उनमें से वर्तमान समय के लिए कौनसी उपयोगी हैं और उन्हें किस तरह काम में लाया जाय। चाकू से साग काटना है और सुई से कपड़ा सीना है यही शिक्षा लेनी शेष है। आपके पास चाकू और सुई सभी भरे हुए हैं। यदि कोई व्यक्ति चाकू और सुई का दुरुपयोग करके किसी के शरीर में चुभो दे तो यह उन उत्तम वस्तुओं का दुरुपयोग होगा और पाप कहा जायगा। मानव चेतना के अन्यर्गत त्याग, दया, विवेक, ज्ञान, प्रेम, उदारता आदि सतगुण, ऐश्वर्य, सुखेच्छा, प्रसन्नता आदि रजोगुण; हिन्सा, स्वार्थ, छिपाव सघर्ष, भेद नीति आदि तमोगुण सभी भरे हुए हैं और सभी उपयोगी हैं। इनमें से एक भी वस्तु व्यर्थ नहीं हैं परन्तु प्रश्न केवल औचित्य का है। हमारे लिए क्या धर्म है ? इसका निर्णय अन्तःकरण की पवित्र आकांक्षाओं से पूछ कर किया जा सकता है। वर्तमान परिस्थिति के लिए उपयोगी धर्म क्या है ? इसका निर्णय विकाशोन्मुख-अन्तःकरण ही कर सकता है। जब आप अपने आत्मिक प्रकाश की छाया में बैठते हैं और अन्तमुर्खी होकर अपनी विकाश की ओर, महानता की ओर, चलने वाली चेतना से पूछते हैं कि इन दो कामों में से मुझे कौन सा करना चाहिए तो अन्तःकरण अविलम्ब अपना फैसला दे देता है कि यह करना चाहिए यह नहीं। यह कर्तव्य है यह अकर्तव्य।

मनुष्य शरीर कई बार धारण करने के पश्चात् परम पद प्राप्त होता है। इन बार बार के जन्मों में हर बार बचपन आता है हर बार पहले की अपेक्षा ऊंचे और सुशिक्षित परिवार में जन्म होता है इसलिए उन लोगों की सहायता से अधिक उत्तम हथियार चुनने में सुभीता होता है। इस तरह हर बार का

बचपन हर जीवन को हर सुयोग्य बनाने के निमित्त आता है।

उपरोक्त पंक्तियों में आपने यह जाना होगा कि किस प्रकार जीवन एक और अखंड है। एवं वह किस प्रकार निरंतर आगे की ही ओर विकसित हो रहा है। अब आप विकास की अन्तिम सीढ़ी पर आ पहुंचे हैं। मनुष्य शरीर परमात्मा को प्राप्त करने की आखीरी मंजिल है। आप अब करोड़ों वर्ष में पूरी होने वाली लाखों कक्षाओं (योनियों) की शिक्षा प्राप्त करके सर्व श्रेष्ठ हो गये हैं। प्रभु के मंदिर की चौखट पकड़े हुए खड़े हैं अब आप को केवल मंदिर में भीतर प्रवेश करना है। कालेज में उत्तीर्ण हुए ग्रेजुएटों को दीक्षान्त समारोह के अवसर पर प्रमाण पत्र दिया जाता है। आप अपनी सारी पढ़ाई समाप्त कर चुके केवल परीक्षा देकर दीक्षान्त समारोह में प्रमाण पत्र लेना है। इसके लिए तैयार होजाइए। सावधान हूजिए और इस अन्तिम अवसर से लाभ उठाने के लिए आन्दोलित हृदय आगे कदम बढ़ाइए।

—:*—*:—

जीवन का अन्त।

गर्मी की छुट्टियों में स्कूल बन्द होता है तब सभी विद्यार्थी छुट्टी पा जाते हैं। कोई किसी दर्जे में पढ़ता हो, पास हुआ हो फेल हुआ हो, आज्ञाकारी हो उद्दंड हो, सभी छुट्टी पा जाते हैं। प्रलय के समय समस्त जीवधारी नष्ट हो जाते हैं। और पानी की हलचल बन्द होजाने पर बबूलों का उठना तथा आगे बढ़ना बन्द हो जाता है। पृथ्वी के पंचतत्व बादल के रूप में वायु सदृश होजाते हैं। शरीर धारियों के शरीर प्रकृति में और आत्मा परमात्मा में मिल जाती है। प्रलय में सृष्टि और ईश्वर दो रहते हैं। महाप्रलय में प्रकृति को भी ईश्वर उसी तरह अपने भीतर

समेट लेता है जैसा कि मकड़ी अपने जाले के तन्तुओं को अपने मुंह में समेट लेती है। जीवन का महाप्रलयमें अन्त होजाता है।

एक विशिष्ट प्रकार से और भी जीवन का अन्त होता है। भृंग नामक मक्खी झींगुर को पकड़ लेजाती है और उसे अपने समान बना लेती है। झींगुर तो रहा, पर उसको बिलकुल रूपान्तर होगया। लोहा पारस पत्थर को छूता है और सोना हो जाता है। लोहा नष्ट तो नहीं हुआ पर उसका आकार प्रकार बदल गया इसी प्रकार मनुष्य परमात्माके संसर्ग से जीवन मुक्त होकर देवता बन जाता है। इस परिवर्तन को परमपद, मुक्ति, निर्वाण, ब्रह्म भूत, सिद्धि, अमृतत्व, आदि नामों से पुकारते हैं। इस कोटि में मानव जीवन का अन्त होजाता है और देव जीवन आरम्भ होता है। प्रलय का जीवनान्त अपने बस से बाहर की बात है किन्तु मनुष्य जीवन का अन्त करना, कालेज पास कर लेना, अपने बस की-पुरुषार्थ की बात है। कालेज की शिक्षा में जो पुस्तकें रटनी पड़ती थीं, मास्टर से डरना पड़ता है, खर्च के लिए पिता के आश्रित रहना पड़ता था, नियत वक्त हाजिर रहने और नियत समय पर चले जाने का प्रतिबंध था वह सब एम० ए० पास करनेपर समाप्त होजाता है। फिर जो स्वतंत्र व्यवसाय या अफसरी करनी पड़ती है वह छात्रावस्था की अपेक्षा बिलकुल बदली हुई होती है। उस समय का गौरव, स्वातंत्र्य और आनन्द बहुत अधिक होता है। परम पद प्राप्त हुए प्राणी का कार्य बहुत ही उच्च और गौरव मय होजाता है। भले ही वह मनुष्य शरीर धारण किये रहें पर उसके कार्य बिलकुल भिन्न-देवताओं के अनुरूप होते हैं।

बन्धन और मुक्ति की विवेचना करते हुए हमें जानना चाहिए कि जिस प्रकार रस्सियों से जंजीरों से या कैदखाने में शरीर को बांध दिया जाता है उस प्रकार जीव अपने ही औजारों

से अपने आप बँध जाता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सूक्ष्म शरीर की चार इन्द्रियां हैं। इन इन्द्रियों का ठीक प्रकार उपयोग न करने से यह औजार ही बन्धनकारक होजाते हैं। बन्दर छोटे मुंह के घड़े में से अनाज निकालने के लिए हाथ डालता है और मुट्ठी बांध कर अन्न निकालता है लेकिन बँधी हुए मुट्ठी घड़े के छोटे मुंह में से नहीं निकलती। घड़ा बन्दर को पकड़ लेता है। इसी प्रकार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का विभ्रम, बन्धन स्वरूप हो जाता है। प्रकृति के पदार्थ एक नियत गति से अपनी यात्रा कर रहे हैं। तत्वों का संगठन और विसंगठन निरंतर जारी रहता है। मनुष्य जीवन के उपयोगी अंश इन प्रकृति तत्वों में से हमें भी मिल जाते हैं। धर्मशाला में ठहरने के लिए कोठरी कमरे मुसाफिर को मिलजाते हैं ताकि उसकी यात्रा में सहायता मिले। किन्तु मुसाफिर जब धर्मशाला पर मालिकी जमाता है तो उस धर्म स्थान का असली मालिक उसकी गरदन पकड़ कर झँझोड़ता हुआ बाहर निकाल देता है। संसार का बंधन ऐसा ही है। संसार के समस्त भौतिक पदार्थ, रुपया, पैसा, जमीन, जायदाद तथा स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र आदि के शरीर अपने अपने विशिष्ट कार्यों की पूर्ति के लिए यात्रा कर रहे हैं। आप स्वयं लाखों कक्षाओं को उत्तीर्ण करते हुए करोड़ों अरबों मित्र, पिता, पुत्र, पत्नी, माताओं को छोड़ते हुए आगे बढ़ते हुए चले आ रहे हैं। और जब मुक्ति प्राप्त करने वाले हैं। वर्तमान समय में जो स्त्री, पुत्र हैं आगामी जन्म में उनसे भी कोई ताल्लुक न रहेगा। आप मुक्ति मार्ग पर चल रहे हैं अपने कर्तव्य धर्म को पालन करते हुए अपना महान कार्य पूरा कर रहे हैं। यदि कोई मित्र आपके शरीर या आत्मा पर अपना एकाधिकार प्रकट करे तो उसकी मूर्खता है। आप उसकी बेवकूफी पर हँसेंगे और कहेंगे "मित्र, तुम्हारे हमारे बीच में

जो कर्तव्य धर्म हैं उसे पूरा करना ही पर्याप्त है। अब तक हम दोनों असंख्य मित्रों को छोड़ और भूल चुके हैं फिर तुम्हारी यह अनधिकार चेष्टा उचित नहीं कि मैं तुम्हारी सम्पत्ति हूं।"

एक मंजिल पार करते समय कई यात्री मिल जाते हैं। वे लोग साथ साथ चलते हैं। उनमें कोई तेज चलने वाला होता है वह आगे निकल जाता है किसी के पैर में ठोकर लग जाती है वह बैठ रहता है। इस तरह मंजिल में एक दिन जो साथी थे वे दूसरे दिन नहीं रहते। संग बिछुड़ जाता है। दूसरे दिन नया संग बनता है। तीसरे दिन वह भी बिछुड़ जाता है। जीवन ऐसी ही मंजिल हैं जिसमें हर जन्म में नये नये साथी मिलते है और बिछुड़ जाते है क्योंकि हर यात्री अपने घर से अकेला चला है और अकेला ही निर्दिष्ट स्थान में प्रवेश करेगा। साथ तो रास्ते की सुविधा के लिए, मार्ग की थकान और उदासी मिटाने के लिए है। कोई किसी की यात्रा का अन्ततः जिम्मेदार नहीं है। सभी स्वतंत्र हैं सभी अपने आपे में महान् हैं। सभी का एक प्रथक मार्ग है। ऐसी दशा में एक दूसरे पर मालिकी प्रकट करना, किसी का स्वामी बनना यही वन्धन है। जिस पेड़ के नीचे रात विताई थी प्रातः काल उसी पर अपना कब्जा घोषित कर देना, अभी जिस प्याऊ पर पानी पिया था उस पर अपनी मालिकी का साइनबोर्ड लगा देना एक प्रकार का पागलपन है।

मूर्ख वास्तविकता को भूल जाता है और अपने नियत कार्य को छोड़ कर, जीवन के मूल तत्व को भूल कर; मालिकी गांठने लगे हैं। स्त्री का पति बनते हुए; पुत्र का पिता बनते हुए, नौकर स्वामी बनते हुए मनुष्य घमंड में इठा जाता है। समझता है मानो मैं ही इनका बनाने वाला ब्रह्मा, पालन करने वाला विष्णु और नाश करने वाला शंकर हूँ। वह सब की

स्वाधीनता का अपहरण करता है। स्त्री को कठपुतली की तरह नचना चाहता है, पुत्र को बन्दर की तरह कुदाना चाहता हैं, नौकर को मशीन की तरह चलाना चाहता हैं। लेकिन ऐसी इच्छाऐं, अज्ञान मूलक, प्रकृति धर्म के विपरीत, ईश्वरीय आज्ञा के विरुद्ध, होने के कारण सर्वथा असफल रहता हैं। उसकी मालिकी बात बात में धूलि चाटती है। हर बार वह धर्मशाला की मालिकी घोषित करता है मालिक हर बार लात मार कर उसकी कमर तोड़ देता है। पानी पीने के बाद प्याऊ को अपनी मिल्कियत साबित करता है। झुंझलाकर प्याऊ वाला सोटे मार मार कर उसकी पीठ सुजा देता है।

अब आप समझे होंगे कि बन्धन क्या है और मुक्ति क्या है ? संसार के पदार्थों को "सदुपयोग करके आत्मोन्नति करने की सामग्री" मानना मुक्ति है और पंचतत्वों से बने हुए प्राकृतिक पदार्थों को हराम के माल की तरह लूट कर घर में भर लेने की इच्छा का नाम बन्धन है। बन्धन में पल पल पर दुःख, चिन्ता, कष्ट, वेदना, व्यथा, अपमान और नरक है। मुक्ति में निर्भयता, प्रसन्नता, सुख, उत्साह, शान्ति, आनन्द एवं स्वर्ग है।

निष्काम कर्मयोग ही मुक्ति की प्रधान साधना है। भौतिक पदार्थों पर अपना आधिपत्य मत जमाओ। आत्मोन्नति की दृष्टि से हर काम करो। शरीर पालन, कुटम्ब पालन, समाज व्यवहार लोकाचार सब करने चाहिए पर उसमें मालिक का नहीं सेवक का दृष्टिकोण होनी चाहिए, इन्द्रिय तृप्ति की नहीं आत्मोन्नति की आकांक्षा होनी चाहिए। प्रत्येक कार्य को करते समय प्रत्येक विचार को मस्तिष्क में स्थान देते समय यदि निरीक्षण बुद्धि से आत्मोन्नति की कसौटी पर कस लिया जाया करे तो घरमें असली सोनाही जमा होता जायगा और एक दिन उसके निरंतर संचय के कारण जीवन मुक्ति रूपी स्वर्ण राशि जमा हो जायगी।

मुक्ति का यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि आत्मा मर जाता है या ईश्वर में घुल कर स्वयं अपनी चेतना खो देता है। ऐसी मुक्ति को लेकर कोई क्या करेगा ? यदि कोई कहे कि तुम फांसी लगवालो तुम्हें हजार रुपये मिलेंगे तो उन रुपयों को लेकर कोई क्या करेगा ? जब मर ही गये तो उन रुपयों का सुख कौन भोगेगा ? ऐसी मुक्ति जिसमें अपनी चेतना ही गल जाय, खुदी ही मरजाय, किस काम की ? उसे कोई क्यों पसन्द करेगा ? आत्मा जीवन मुक्ति में नष्ट नहीं होता। वरन् उसे मनुष्य से देवता की योनि मिल जाती है। देव योनि इस मृत्युलोक के प्राणियों की सारी परिभाषाओं से भिन्न है। उनके संकल्प स्वार्थमय नहीं होते इसलिए कर्म बन्धन नहीं होता। वे जीवों की भांति संस्कार और कर्म फलों की रस्सियों में जकड़े हुए असहाय चीखते चिल्लाते हुए नहीं घिसटते वरन् सब दृष्टियों से-सर्वतो भावेन-स्वतन्त्र होते हैं, वे जब चाहते हैं तब ईश्वरीय गुणों से प्रेरित होकर मृत्युलोक के कल्याणार्थ जन्म लेते हैं, जब काम पूरा हो जाता है तो फिर लौट जाते हैं। जब आवश्यकता देखते हैं तो अपने सहज स्वभाव से "धर्म संस्थापनार्थाय और विनाशायश्च दुष्कृताम्" प्रकट होते हैं और कार्य को पूरा करके अदृश्य हो जाते हैं। ऐसे अवतारी पुरुषों को कभी कभी लोग पहचान भी लेते हैं तब उनकी राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, नानक, ईसा, मुहम्मद की तरह पूजा होने लगती है। अधिकांश को नहीं पहचाना जाता। वे अपनी प्रचण्ड शक्तियों से जन समाज का प्रवाह उलट कर अव्यवस्था को मिटाते हुए धर्म तुला का सन्तुलन ठीक कर देते हैं। इन जीवन मुक्तों में से जो नहीं चाहते वे चिरकाल तक मर्त्यलोक में शरीर धारण नहीं करते, पर अन्तमें उन्हें भी क्रीड़ा सूझती है। जब ईश्वर को 'एकोहं बहुस्याम' का खेल सूझा तो मुक्त आत्माएँ क्यों न उसका अनुगमन करें।

बहुत से तो मुक्ति के पश्चात् भी विश्राम पसन्द नहीं करते और इहलोक में लीला करते रहते हैं।

कोई यह कह सकता है कि परम पद प्राप्त होने पर भी जीवन तो रहा ही। पर हमारा मत है कि वह जीवन मर्त्यलोक के जीवन की परिभाषा में नहीं आता। मनुष्य अपूर्ण है किन्तु मुक्तात्माएं पूर्ण हैं। इस लिए परम पद प्राप्त होने को जीवन का अन्त कहा जा सकता है। त्रिगुणीभूत, माया बंधित, प्रकृति और आत्मा के संसर्ग से उत्पन्न हुई एक अस्थायी चेतन को ही तो जीव कहता है। यह चेतना जब निरुपयोगी होगई या कर्ता पद से हटा दी गई तो उसका अन्त ही मानना चाहिए। एक बादशाह जब पदच्युत होता है और दूसरा शासनारूढ़ हो जाता है तो पहले बादशाह का अंत होगया। जीव का कार्य समाप्त होकर; विद्यार्थी पद समाप्त होकर, जब परम पद की प्रोफेसरी प्राप्त होगई तो 'छात्रावस्था का अन्त' इन शब्दों का प्रयोग करने में हिचक क्यों होनी चाहिए? जीव से जीवन बना है जब चद्रमा नहीं तब चांदनी क्या? जब जीव जीव ही न रहा तो जीवन का भी अंत ही मानना चाहिए।

इस तरह दो प्रकार से जीवन का अन्त होता है। एक प्रलय में दूसरा मुक्ति में। प्रलय का अन्त लाचारी है। मुक्ति का अन्त पुरुषार्थ का प्रसाद है जिसे परम पद नाम से गौरवान्वित किया गया है।

* इति शुभम् *

१६—पंचाध्यायी ।≈)
२०—शक्ति संचय के पथ पर ।≈)
२१—आत्म गौरव की साधना ।≈)
२२—प्रतिष्ठा का उच्च सोपान ।≈)
२३—मित्र भाव बढ़ाने की कला ।≈)
२४—आन्तरिक उल्लास का विकाश ।≈)
२५—आगे बढ़ने की तैयारी ।≈)
२६—आध्यात्म धर्म का अवलम्बन ।≈)
२७—ब्रह्म विद्या का रहस्योद्घाटन ।≈)
२८—ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्म योग ।≈)
२९—यम और नियम ।≈)
३०—आसन और प्राणायाम ।≈)
३१—प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ।≈)
३२—तुलसी के अमृतोपम गुण ।≈)
३३—आकृति देखकर मनुष्य की पहचान ।≈)
३४—मैस्मरेजम की अनुभव पूर्ण शिक्षा ।≈)
३५—ईश्वर और स्वर्ग की प्राप्ति का सच्चा मार्ग ।≈)
३६—हस्त रेखा विज्ञान ।≈)
३७—विवेक सतसई ।≈) ३८—संजीवन विद्या ।≈)

कमीशन देना कतई बन्द है [illegible] आठ या इससे अधिक पुस्तकें लेने पर डाक खर्च हम अपना लगा देते हैं । आठ से कम पुस्तकें लेने पर डाक खर्च ग्राहक के जिम्मे है ।

मैनेजर—'अखण्ड-ज्योति' कार्यालय, मथुरा

मनुष्य को, देवता बनाने वाली पुस्तकें।

यह बाजारू किताबें नहीं हैं, इनकी एक एक पंक्ति के पीछे गहरा अनुभव और अनुसंधान है। विनम्र शब्दों में हमारा दावा है कि इतना खोज पूर्ण अलभ्य साहित्य इतने स्वल्प मूल्य में अन्यत्र नहीं मिल सकता।

१—मैं क्या हूं ? ।=)
२—सूर्य चिकित्सा विज्ञान ।=)
३—प्राण चिकित्सा विज्ञान ।=)
४—पर काया प्रवेश ।=)
५—स्वस्थ और सुन्दर बनने की अद्भुत विद्या ।=)
६—मानवीय विद्युत के चमत्कार ।=)
७—स्वर योग से दिव्य ज्ञान ।=)
८—भोग में योग ।=)
९—बुद्धि बढ़ाने के उपाय ।=)
१०—धनवान बनने के गुप्त रहस्य ।=)
११—पुत्र या पुत्री उत्पन्न करने की विधि ।=)
१२—वशीकरण की सच्ची सिद्धि ।=)
१३—मरने के बाद हमारा क्या होता है ? ।=)
१४—जीव जन्तुओं की बोली समझना ।=)
१५—ईश्वर कौन है कहां है ? कैसा है ? ।=)
१६—क्या धर्म ? क्या अधर्म ? ।=)
१७—गहना कर्मणोगतिः ।=)
१८—जीवन की गूढ़ गुत्थियों पर तात्त्विक प्रकाश ।=)